

अंक : १२९

जनवरी-मार्च २०१५

# कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका



## कहानियां

संतोष परिहार • पीयूष द्विवेदी • मदन मोहन प्रसाद  
विक्रम सिंह • रविशंकर सिंह


आमने-सामने • सागर-सीपी  
सुरभि बेहेरा डॉ. श्याम निर्मोही

१५ रुपये

जनवरी-मार्च २०१७

(१९७९ से प्रकाशित)

# कथाबिंब

<p><b>प्रधान संपादक</b> डॉ. माधव सक्सेना "अरविंद" <b>संपादिका</b> मंजुश्री <b>संपादन सहयोग</b> जय प्रकाश त्रिपाठी अश्विनी कुमार मिश्र अशोक वशिष्ठ हम्माद अहमद खान</p>	<p><b>कहानियां</b> अंतिम पड़ाव पर - संतोष परिहार ७ पाखंडी - पीयूष द्विवेदी ११ लीक - मदन मोहन प्रसाद १५ पॉवर, पैसा और परिवार - विक्रम सिंह १९ जीवन खेल तमाशा- रविशंकर सिंह २५</p> <p><b>लघुकथाएं</b> ढोल / प्रबोध कुमार गोविल ९ हमारा अच्छा बेटा ! / श्याम कुमार राई २३ बारिश का बोझ / सुनील गज्जाणी ३५</p> <p><b>गज़लें / कविताएं</b> गज़ल / रामकुमार पटेल "यार" १० ओ खेवनहार (कविता) / दयाशंकर "सुबोध" १८ शब्द (कविता) / डॉ. प्रभा मुजुमदार ३० गज़ल / अशोक "अंजुम" ४१ नारी नदी है ! (कविता) / प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय ४५</p> <p><b>स्तंभ</b> "कुछ कही, कुछ अनकही" २ लेटर बॉक्स ४ "आमने-सामने" / सुरभि बेहेरा ३१ "सागर-सीपी" / डॉ. श्याम निर्मोही ३६ "बाइस्कोप" (सविता बजाज) / इब्राहिम अल्काज़ी ३९ "मत-मतांतर" / कुशेश्वर ४२ पुस्तक-समीक्षा ४६</p>
<p>● सदस्यता शुल्क ● आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु., वार्षिक : ५० रु., (वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है) कृपया सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट द्वारा केवल "कथाबिंब" के नाम ही भेजें.</p> <p>● रचनाएं व शुल्क भेजने का पता ● ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड, देवनार, मुंबई-४०० ०८८. फोन : २५५१ ५५४१, ९८१९१६२६४८</p> <p>e-mail : kathabimb@yahoo.com www.kathabimb.com</p> <p>● न्यूयॉर्क संपर्क ● Naresh Mittal (M) 845-304-2414 Namit Saksena (M) 347-514-4222</p> <p>● शिकागो संपर्क ● Tulika Saksena (M) 224-875-0738</p>	<p>● "कथाबिंब" अब फेसबुक पर भी ●  facebook.com/kathabimb आवरण पर नामित रचनाकारों से निवेदन है कि वे कृपया अपने नाम को "टैग" करें.</p>
<p>एक प्रति का मूल्य : १५ रु. कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें. (सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)</p>	<p>आवरण चित्र : नमित सक्सेना बांद्रा-वर्ली "सी लिंक" (मुंबई). "कथाबिंब" मुंबई की "संस्कृति संरक्षण संस्था" के सौजन्य से प्रकाशित होती है.</p>

## कुछ कही, कुछ अनकही

समय-समय पर, कई बार, हमने यह उल्लेख किया है कि “कथाबिंब” अकादमिक पत्रिका नहीं है। इसीलिए किसी भी साहित्यिक विधा संबंधी आलेख आदि पत्रिका में प्रकाशित नहीं किये जाते। ऐसी सामग्री को तरजीह देने वाली तमाम अन्य पत्रिकाएं हैं। यही कारण है कि लोकार्पण, विमोचन और सम्मान-समारोह आदि के समाचार भी “कथाबिंब” में नहीं दिये जाते। सामान्य पाठक भी ऐसी सामग्री से परहेज़ करता है। बिना पढ़े वह पत्रे पलटता जाता है। “कथाबिंब” कथा-प्रधान पत्रिका है, हम चाहते हैं कि प्रत्येक अंक में अधिक से अधिक पृष्ठ कहानी को मिलें। इस अंक में “मत-मतांतर” के अंतर्गत अपने एक पुराने मित्र और हितैषी का पत्र प्रकाशित किया गया है। पिछले लगभग तीन दशकों से इनको “कथाबिंब” जाती रही है। देर से ही सही, इतने सालों के बाद मित्र ने सुध ली। मित्र का आग्रह मानकर बिना कुछ कांट-छांट कर पूरी प्रतिक्रिया छापी गयी है। मैं केवल इतना ही कहना चाहूंगा कि हर रचनाकार का भोगा हुआ यथार्थ एक-सा नहीं हो सकता। यह भी काल और स्थान सापेक्ष होगा। दूसरों के अनुभवों को या भोगे हुए यथार्थ को आप सिरे से नकार नहीं सकते क्योंकि कभी आपका अनुभव भिन्न था !

इस बार “कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार-२०१४” के पुरस्कारों की घोषणा अंक के अंतिम पृष्ठ ५२ पर प्रकाशित की गयी है। “कहानी-विशेषांक” में छपी कहानियों के संबंध में निर्णायकों का सर्वसम्मति से मत था कि इनका क्रम निर्धारित करना बड़ा ही मुश्किल कार्य साबित हुआ क्योंकि कोई भी कहानी किसी भी तरह कमतर नहीं थी। अंततः यह तय पाया गया कि दो के स्थान पर चार कहानियों को सर्वश्रेष्ठ की कोटि में रखा जाये। पुरस्कृत कहानियों में से कुछ के रचनाकार प्रवासी हैं। ऐसे रचनाकारों से अनुरोध है कि कृपया अपना कोई भारतीय संपर्क हमें सूचित करें जहां उनके पुरस्कार की राशि भेजी जा सके। वेबसाइट के अलावा “कथाबिंब” को फ़ेसबुक पर भी देखा जा सकता है। आवरण पर नामित लेखकों से निवेदन है कि वे कृपया अपने नाम को “टैग” करें। इससे इनकी रचनाओं की “पहुंच” का दायरा और व्यापक होगा।

अब इस अंक की कहानियों पर -- अंक के लगभग सभी रचनाकार “कथाबिंब” के पाठकों के लिए नये हैं। संतोष परिहार की कहानी “अंतिम पड़ाव पर” कई अभिव्यंजनाओं को समेटे हुए है। श्मशान के पास रहने वाले मुफलिस लोगों के लिए दाह-संस्कार के लिए किसी मुर्दे का आना कुछ “प्राप्ति” से अधिक महत्व का नहीं होता। छोटी छबीली खुश होती है कि उसका नंबर पहला लग गया। पर भाग्य उसका साथ नहीं देता। शव-यात्रा के साथ आये लोग सारा चढ़ावा चिता के साथ ही जला देते हैं और वह हाथ मलती रह जाती है! अगली कहानी “पाखंडी” (पीयूष द्विवेदी) वर्तमान राजनीति के दोहरे चेहरे को उजागर करती है। एक तरफ़ तो हम आइडियोलॉजी और आधुनिकता की बातें करते हैं और विरोध प्रदर्शन के लिए खुलेआम किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। दूसरी ओर व्यक्तिगत संबंधों को लेकर प्यूरिटन बन जाते हैं। यही दो लोगों के मध्य टकराव का कारण बनता है। मदन मोहन प्रसाद की कहानी “लीक” में पिता-पुत्र के बीच महज दो पीढ़ियों का अंतर ही नहीं दर्शाया गया है। आधुनिकता के प्रभाव के कारण पुत्र को पिता की कोई भी बात अच्छी नहीं लगती, जब तक स्वयं उसे ठोकर नहीं लगती। इधर कई पत्रिकाओं में विक्रम सिंह की कहानियां आयी हैं। उनकी कहानी “पाँवर, पैसा और परिवार” आज के आम भारतीय युवा की कहानी है। पैसे और पाँवर के पीछे भागते-भागते रवि घर-परिवार से बहुत दूर, विदेश चला जाता है। उसके संबंध वहीं की एक युवती से हो जाते हैं। ग्लानि महसूस होने पर विदेश से वह भारत लौट आता है। पर क्या सब कुछ पहले जैसा हो पायेगा? अंक की अंतिम कहानी “जीवन खेल तमाशा” (रविशंकर सिंह) एक संघर्षरत मध्यम वर्गीय परिवार की कहानी है। अपने बेटे के अच्छे भविष्य के लिए पिता और मां ने अपना जीवन होम कर दिया और शहर चले आये। वृद्धावस्था में मां विक्षिप्त हो जाती है। गांव से विस्थापन का दर्द उसे हर पल कचोटता रहता है।

पिछला एक वर्ष राजनीतिक गतिविधियों का बेमिसाल साल रहा है। विशेष बात यह रही कि चाहे लोक सभा के चुनाव हों या फिर विधान सभा के कहीं से भी किसी धांधली या रिगिंग की खबर नहीं सुनाई दी। जब कि पहले बूथ कैप्चरिंग या बायकॉट की बातें अक्सर सुनने में आती थीं। जम्मू-कश्मीर में ५५ से ६० प्रतिशत वोट पड़े। यह संकेत है कि बरसों के आतंकवाद और उग्रवाद से जम्मू-कश्मीर की जनता आजिज आ गयी है और अब अमन-चैन चाहती है। निष्पक्ष चुनाव कराने का सारा श्रेय चुनाव आयोग को जाता है। यह बात अलग है कि कश्मीर घाटी ने पूरी तरह भाजपा को नकार दिया और जम्मू में इसका उल्टा हुआ। अंततः पी. डी. पी. और भाजपा ने एक साझे कार्यक्रम के आधार पर सरकार गठित

की. हमें आशा करनी चाहिए कि यह सरकार छह साल का अपना कार्यकाल पूरा करेगी और पुनः कश्मीर अपने गौरव को प्राप्त करेगा. जम्मू-कश्मीर के बाद सारे देश की नज़रें दिल्ली के चुनाव पर लगी थीं. प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अपनी सरकार की पूरी ताकत दिल्ली चुनाव में झोंक दी. श्रीमती किरण बेदी को मुख्यमंत्री पद का उम्मीदवार घोषित किया. मीडिया ने इसे मास्टर स्ट्रोक कहा. टी वी चैनलों पर सभी प्री-पोल व एक्जिट-पोल निरंतर बता रहे थे कि भाजपा और “आप” में कांटे की टक्कर है और कॉन्ग्रेस ने पूरी तरह हथियार डाल दिये हैं. किंतु जो परिणाम सामने आये वैसी कल्पना किसी ने नहीं की थी. “आप” को ५४ प्र. श. वोटों के साथ ६७ सीटें मिलीं, ३२ प्र. श. वोट भाजपा को मात्र ४ सीट ही दिला पाये और कॉन्ग्रेस के ६३ प्रत्याशियों की ज़मानत जप्त हुई. दिल्ली के २०१३ के चुनावों में “आप” को २९ प्र. श. वोट शेर के साथ २८ सीटें आयी थीं और ३३ प्र. श. शेर के साथ भाजपा को ३२ सीटें मिलीं. इस बार अल्पसंख्यक वोटों का पूरी तरह धुवीकरण हुआ और बिल्लियों की लड़ाई में बंदर रोटी ले भागा. जिस तरह जनता ने केंद्र में पांच साल के लिए मोदी सरकार को अप्रत्याशित जीत दिलाकर काबिज किया है उसी तरह जनता ने “आप” को दिल्ली में सत्ता में रहने का अभूतपूर्व जनादेश दिया है. लेकिन अभी दो महीने नहीं हुए अरविंद केजरीवाल का तानाशाही हिटलरी रूप सामने आया है. नज़दीकी कहे जाने वाले अपने लोगों का भी विरोध उन्हें क्रतई पसंद नहीं. यदि “आप” में रहना होगा तो “केजरीवाल-केजरीवाल” कहना होगा. अन्यथा पार्टी से आपकी छुट्टी. यहां तक कि जन-लोकपाल के आंदोलन से बनी “आप” में अपने ही लोकपाल रामदास के लिए भी जगह नहीं !

कुछ ही समय में मोदी सरकार का एक साल पूरा हो जायेगा. इस बीच न जाने कितनी ही लोक लुभावनी योजनाएं शुरू की गयी हैं. मनमोहन सिंह जी जितना कम दिखते थे और कम बोलते थे उनकी अपेक्षा वर्तमान प्रधानमंत्री रोज़ देश या विदेश में कहीं न कहीं भाषण देते हैं, उद्घाटन करते हैं. सरकार अपनी कई उपलब्धियां गिना सकती है. विदेश नीति, आर्थिक नीति, अगले पांच-दस साल का रोड मैप, मुद्रा-स्फीति में गिरावट, सांप्रदायिक दंगों का न होना, कोयले की खानों का आबंटन. किसी भी घोटाले की भनक नहीं है. लेकिन क्या इस अवधि में आम आदमी को दैनिक जीवन-यापन में थोड़ी भी राहत मिली है? मोदी को विरासत में जो सरकारी तंत्र (ब्यूरोक्रेसी) मिला है वह आज भी पहले की तरह से काम कर रहा है. जब तक घूस, उत्कोच, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, मिलावट, जमाखोरी, अनाप-सनाप मुनाफ़ाखोरी आदि जैसे संगीन-अपराधों के लिए सख़्त कानून नहीं बनाये जाते आम आदमी तक किसी भी योजना का मनचाहा लाभ पहुंचना एक दिवास्वप्न ही रहेगा.

लोकसभा चुनावों के परिणामों ने कॉन्ग्रेस के साथ ही कई अन्य राजनीतिक दलों को हाशिये पर ला कर खड़ा कर दिया है. सरकार में रहते जिन नीतियों का कॉन्ग्रेस समर्थन करती थी आज उन्हीं का विरोध करती नज़र आ रही है. युवराज “छुट्टी” पर हैं. संभवतः किसी संजीवनी की तलाश में जुटे हैं जो मृतप्राय कॉन्ग्रेस में नयी जान फूंक दे! वे देश में हैं या विदेश में यह भी किसी को नहीं मालूम! कब अवतरित होंगे, यह भी पता नहीं है. कहीं भी हों सांसद होने के नाते उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी केंद्रीय सरकार की ही होनी चाहिए. बिना अप्रवासन जांच के कोई भी भारतीय नागरिक देश नहीं छोड़ सकता. हवाई-यात्रा का टिकट और अपना पासपोर्ट जांच के लिए हर व्यक्ति को दिखाना पड़ता है. जानकारी क्यों नहीं सार्वजनिक की जा रही है इसके पीछे अवश्य ही युवराज का कोई “राज” होगा !

इस वर्ष के अंत में बिहार में चुनाव होने हैं. लेकिन सरगर्मियां अभी से शुरू हो गयी हैं. लालू-दंपति के पंद्रह सालों के शासन ने बिहार को हर प्रकार से खोखला व जर्जरित कर दिया था. नीतिश ने भाजपा के साथ मिलकर बिहार को हताशा की स्थिति से काफ़ी कुछ उभारा. लेकिन नीतिश की व्यक्तिगत आकांक्षाओं के चलते बिहार फिर उसी दौर में पहुंच गया है. एक-दूसरे के दुश्मन, नीतिश और लालू गले मिल रहे हैं. जनता परिवार एक हो रहा है. बोटल में से मंडल का जिन्न निकालकर, जोड़-तोड़ करके नये-नये जातीय समीकरण बनाने की कोशिश की जा रही है. अपने ही पिट्टू मांझी को दूध में पड़ी मक्खी की तरह निकाल फेंका है. महादलित मांझी द्वारा लोहिया की मूर्ति पर माल्यार्पण से अपवित्र हुई मूर्ति को गंगाजल से धोया गया. यह कैसा समाजवाद है ?

दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के एक बड़े भू-भाग में मारकाट मची हुई है. सिया-सुन्नियों के बीच घमासान मचा हुआ है. रोज़ कत्लेआम हो रहे हैं. पेशावर, पेरिस और अब केन्या, एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों को छांट-छांट कर मौत के घाट उतार रहे हैं. यह धार्मिक उन्माद कितने मासूम लोगों की जान लेगा और कैसे रुकेगा कोई आसान उपाय नज़र नहीं आता. आज २१वीं सदी में भी किसी पैगंबर, ईसा मसीह, कबीर या गांधी के अवतरित होने की आवश्यकता है.

आमीन !!!

अरविंद



## लेटर-बॉक्स



► यह मुझ पर आपकी अहेतुकी कृपा है कि आप 'कथाबिंब' भेज दिया करते हैं और मेरी प्रतिक्रिया को भी स्वीकारते हैं।

समकालीन जीवन संदर्भ (प्रजातंत्र, उसकी योजना, मिड-डे मील, एनजीओ का बढ़ता वर्चस्व, जन-जागरण पर आधारित कहानियां, प्राणवंत और प्रासंगिक बन पड़ी हैं। 'सर्वशिक्षा' (डॉ. देवेन्द्र सिंह) ने सरकारी नीति, मुफ्त शिक्षा, मुफ्त भोजन की न केवल खिल्ली उड़ायी है, बल्कि आंखों में उंगली डालकर यह सोचने पर मजबूर किया है कि शोषण जड़ से लेकर फुनगी तक फैला हुआ है। ठेकेदार द्वारा मंगाये भोजन को चखकर संदीप के मुंह में एक अजीब तरह का सड़ांध जैसा स्वाद भर गया। उसको लगा, यदि वह कौर निगल गया तो पेट उसको उगल देगा। समाजवादी, कल्याणकारी प्रजातंत्र का यह रवैया कितना कारुणिक है?

वैसे मालती जोशी, प्रसिद्ध कहानीकार हैं परंतु 'अपहरण' कहानी का 'ट्रीटमेंट' ठीक से नहीं हो पाया। लड़के को लड़की की कौन सी अदा, कैसा स्वभाव, बिंब भा जायेगा, इसका पता कर पाना कठिन है। पर 'मधुरा' के घातक प्रहार से नायक इतनी जल्दी कैसे मुक्त हो जाता है? क्या कोई हड़बड़ी नहीं लगती? डॉ. शांति सुमन की काव्य-साधना का सम्यक मूल्यांकन हो पाया है। डॉ. अशोक प्रियदर्शी का मानना उचित है कि डॉ. शांति सुमन गीत लिखती नहीं, गीत उनके हृदय से निकलकर होठों से फूट पड़ते हैं। 'मर जाणियां' (जलप्रीत कौर 'फलक') सिमोन द बआर (द सेकंड सेक्स) की याद दिला देती है। दादी की अहर्निश सेवा करें पोतियां और उन्हें आशीर्वाद मिले — 'मर जाणियां' और अजन्मे बेटे की कामना हो, पूजा प्रार्थना हो कि कभी कहा जा सके 'जुग-जुग जीओ!'

सभी रचनाएं प्राणवंत, प्रेरक और पठनीय हैं। साधुवाद.

— प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय

९/२१, वृंदावन, मनोरम नगर, लूबी सर्कुलर रोड, धनबाद-८२६००१.

► मालती जोशी जी की कलम का मैं 'पराग' के जमाने से प्रशंसक हूँ. पत्रिका के अक्तू-दिसं.'१४ के अंक में उनकी कहानी 'अपहरण' पढ़कर यही लगा कि आज भी उनकी रचना में ताज़गी है, सजगता है. इतनी सुंदर रचना के लिए मालती जी के साथ आपको भी बधाई. एक स्त्री की चोटिल भावना की वास्तविकता को कुशलता से उभारने में वे पूर्णतः सफल रही हैं. उर्मि जी की लघुकथा 'स्त्री की जीत', डॉ. दीप बिलासपुरी की गज़ल, विशेष पसंद आयीं. पत्रिका के सारे स्तंभों की सामग्री सदा की तरह बढ़िया है. मैं इन रचनाओं को एक से अधिक बार पढ़ता हूँ.

— श्याम कुमार राई

कांथरा, पुरानी बस्ती, सलुवा-७२११४५.

► अक्तूबर-दिसं. २०१४ अंक प्राप्त हुआ, अति प्रसन्नता हुई. प्रस्तुत अंक में संपादकीय से लेकर तमाम रचनाएं कुछ न कुछ इंगित करती हैं. आज हर तरफ 'खुला खेल फ़र्रखाबादी' खेला जा रहा है,' ऐसे में अपनी उनींदी आंखों से कितनी दूरी तय कर पायेंगे हम! मृगतृष्णा में

भटकने के अतिरिक्त हमें क्या प्राप्त हो रहा है? ऐसे में आपका ख्याल कि विदेश से अगर काला धन आया तो जायेगा कहां? वाकई एक बहुत बड़ा प्रश्न है! क्योंकि लालच और स्वार्थ का इतना बड़ा पेट है कि इसमें यह कहां खो जायेगा पता ही नहीं चलेगा. प्रस्तुत अंक में जितनी प्रेरक कहानियां हैं उतनी सटीक एवं चुटीली लघुकथाएं भी हैं. हां, थोड़ा गज़ल पर ध्यान देने की आवश्यकता है. 'आमने-सामने' में विवेक द्विवेदी जी की बातें अंदर तक छूती हैं और उत्प्रेरित भी करती हैं.

— चांद मुंगेरी

२सी/१-१४१, बोकारो स्टील सिटी-८२७००१.

► 'कथाबिंब' का १२८वां अंक पढ़ा, आपने तो कमाल कर दिया 'गागर में सागर' भर दिया. 'नयी कहानियों' के सशक्त हस्ताक्षरों को देखकर बहुत प्रसन्नता हुई.

खुशी की बात तो यह भी है कि इसमें गीत/गज़ल/कविताएं भी स्तरीय हैं. 'सागर-सीपी' के अंतर्गत डॉ.

शांति सुमन से लिया गया साक्षात्कार (श्रीमती मधु प्रसाद) दीदी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को उद्घाटित करता है। मुझे शांति दीदी के गीत काफ़ी रससिक्त, सटीक और सार्थक लगते हैं। 'कथाबिंब' न केवल पठनीय बल्कि संग्रहणीय भी लगी। इसे बार-बार पढ़ने का मन होता है। 'कुछ कही, कुछ अनकही' का तो कहना ही क्या!

- मदन देवड़ा

ऑफ़ीसर्स कॉलोनी के पास, मालीखेड़ी मार्ग,  
तराना, जि. उज्जैन-४५६६६५.

► 'कथाबिंब' के १२८वें अंक (अक्तूबर-दिसंबर २०१४) की 'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपने जो मुद्दे उठाये हैं वे विचारणीय हैं। कहानियां पांचों एक से बढ़कर एक हैं। श्रीमती मालती जोशी की 'अपहरण' ने एक अछूती विषय वस्तु लेकर उसे बखूबी निभाया है। डॉ. विवेक द्विवेदी की कहानी 'कूलर' बहुत बढ़िया है, हर लिहाज़ से। 'आमने-सामने' में उनका आत्मकथ्य भी बहुत खूब है। सीधा सरल, अपनत्व का भाव लिये। हां, उनकी कहानी का यह वाक्य 'एक बूंद चुआकर ... 'कथाबिंब' जैसी पारिवारिक पत्रिका में अखरता है! डॉ. निरुपमा राय की 'कुसुममाला' दिल को कहीं गहरे तक छू जाती है। डॉ. देवेन्द्र सिंह की 'सर्वशिक्षा' नारों और हकीकत से करने में पूरी तरह सफल है।

जसप्रीत कौर 'फलक' की कविता 'मर जाणियां' बहुत अच्छी लगी। लघुकथा 'नाम में क्या रखा है?' भी खूब है।

- ओमप्रकाश बजाज

विजय विला, १६६, कालिंदी कुंज,  
अग्रवाल पब्लिक स्कूल के पास, पिपलिहाना,  
रिंग रोड, इंदौर (म. प्र.) ४५२०१८.

► अक्तूबर-दिसंबर २०१४ का अंक मुझे काफ़ी विलंब से मिला। पत्रिका मिलने के पूर्व बधाई व प्रशंसा के कई फ़ोन आये थे और मुझे पता चल गया था कि इस अंक में मेरी लघुकथा छपी है। पत्रिका मिलने पर, 'नाम में क्या रखा है' के नीचे अपना नाम देखकर बेहद खुशी हुई। परंतु मुद्रण में एक छोटी-सी त्रुटि दिखी — 'हा' के

बदले 'हार' मुद्रित होने के कारण एक पूरा वाक्य अर्थहीन हो गया। सही वाक्य है — बुढ़िया के 'हां' शब्द के साथ 'हा' करके उसका मुंह खुल गया था।

डॉ. निरुपमा राय की कहानी 'कुसुममाला' बहुत अच्छी लगी। इसमें भी 'नाम' को फ़ोकस किया गया है। यह कहानी मर्म को छू गयी। डॉ. देवेन्द्र सिंह की 'सर्वशिक्षा' ने शिक्षा के सच्चे परिदृश्य को चित्रित किया है। यह कहानी काफ़ी विचारणीय है। 'कमज़ोर पार्टी', 'कूलर' एवं 'अपहरण' भी अच्छी कहानियां हैं।

अंक की समस्त रचनाएं व स्थायी स्तंभ सराहनीय हैं। पत्रिका का स्तर और आपका संपादन कौशल यूं ही बना रहे, यही कामना है।

- चित्त रंजन गोप

सेंट्रल पुल कॉलोनी (बेलचढ़ी),  
पो. व थाना-निरसा (धनबाद)-८२८२०५

► 'कथाबिंब' मिला। अंक की कहानियों पर खिड़की खोली है हमारे प्रदेश की वरिष्ठ कथा लेखिका ने। कहानी पढ़कर अभिभूत हूं। तथाकथित आनेवाले सुख का अपहरण एक गरीब की कन्या कर गयी। मान आहत हुआ। मन की वह दरार नहीं भर पायी। जबकि शादी से वांछित सुख अपेक्षा से अधिक मिला। वाह ! क्या कहानी है? 'कुछ कही, कुछ अनकही' दिल्ली चुनाव के परिणामों के पहले की है। अब परिणाम आने पर क्या प्रतिक्रिया हुई यह अगले अंक में पढ़ने को मिले शायद! कालेधन के मुद्दे पर भी अच्छा विमर्श है। इस बार पद्यांश से पूर्ण संतोष नहीं हुआ। नवगीत की जानी मानी कवयित्री डॉ. शांति सुमन का साक्षात्कार भी उल्लेख्य है।

- चंद्रसेन विराट

१२१, वैकुंठधाम कॉलोनी,  
आजाद बाजार के पीछे, इंदौर-४५२०१८

► 'कथाबिंब' के १२८वें अंक पर बधाई। आपने संपादकीय में टी. वी. को 'झूठ का डब्बा' की सटीक उपादा दी है। दुर्भाग्य यह है कि इसी को देखकर पिछली और आज की पीढ़ी सीख/बढ़ी हो रही है। देश जिस मॉडर्न व्यवस्था की ओर ले जाया जा रहा है उससे न पेरेंटिंग बची है न टीचिंग।

टीचिंग के सिलसिले में डॉ. देवेन्द्र सिंह जी की

कहानी 'सर्वशिक्षा' अच्छी और ज़मीनी हकीकत से जुड़ी हुई लगी। इसके लिए आपको और डॉ. सिंह दोनों को बधाई।

'हंस' की तर्ज़ पर आपने भी तस्लीमा नसरीन का मज़मून प्रकाशित करना शुरू किया है। यह अच्छी बात लगी। अगर गुस्ताखी न हो तो यह भी कहता चलूँ के इस बार नुक़्ते कई ग़लत जगहों पर और बे-वजह लग गये हैं। ये शायद प्रूफ़िंग की ग़लती हो।

— अशोक कुमार

५०, बी-११, वृंदावन, ठाणे (प)-४००६०१.

▶ अक्तूबर-दिसंबर २०१४ का अंक आज १२ फरवरी २०१५ को मिला। पता नहीं क्यों इतनी देर हो जा रही है। बहरहाल, आपका संपादकीय पढ़कर अच्छा लगा। हाल में ही 'भाजपा' और 'आप' के चुनाव का अकल्पनीय परिणाम सामने आया है। कांग्रेस और अन्य पार्टियों की स्थिति का तो अंदाज़ा लगाया जा सकता है, पर भाजपा की ऐसी स्थिति क्यों?

कुछ दिन पहले भाजपा के दिग्गज नेता आकर यहां जनता को सदस्य बनने की वकालत कर गये और हर मोड़ और चौराहों पर युवा ताक़तों को बिठाकर लोगों से सदस्य बनाने की मुहिम में जुट गये हैं। यह कैसी राजनीति है?

भाषणों में भी अपनी भंडास निकालने से बाज नहीं आ रहे। इससे देश का भविष्य ख़तरे में है। चोर-उचक्कों की जमात तैयार हो गयी है। ऐसी स्थिति में पार्टी के ही ख़ैरख़्वाह दिग्गज नेता अशोभन वक्तव्य दें और लोगों को उत्तेजित करने का बीड़ा उठाये तो इस देश का क्या होगा?

दूसरा मुद्दा आपने टी. वी. में विज्ञापन देकर जनता को लूटने का उठाया है। यह शतशः सही है। फ़िल्म के ख़ूबसूरत चेहरों को पैसों का लालच दिखाकर सामान बेचने का धंधा ज़ोरों पर है। लोग अब अपने घरों में बैठकर इनका लुत्फ़ उठा रहे हैं। साधारण जनता तबाह हो रही है। आख़िर सरकार क्या कर रही है? सीमा बांध देनी चाहिए। कुछ विज्ञापनों पर प्रतिबंध लगाने की ज़रूरत है। कई विज्ञापन, बेसिर पैर के और बेहूदे हैं।

इसके अलावा कई सीरियल तो हंसोड़ों के लिए ख़ुराक जुटा रहे हैं। इन्हें दिखाने पर रोक लगे, अन्यथा पूरा देश भांडों की तादाद से भर जायेगा।

— सिद्धेश

१/१७, आदर्शपल्ली,

१ बी, रिजेंट एस्टेट, कोलकाता-७०००९२.

### फॉर्म-४

समाचार पत्र पंजीयन केंद्रीय कानून १९५६ के आठवें नियम के अंतर्गत "कथाबिंब" त्रैमासिक पत्रिका से संबंधित स्वामित्व और अन्य बातों का विवरण :

- |   |   |   |
|---|---|---|
| १. प्रकाशन का स्थान   | : | यूनिटी प्रिंटिंग प्रेस, ९, रेतीवाला इंड. एस्टेट, भायखला, मुंबई - ४०० ०२७. |
| २. प्रकाशन की आवर्तिता  | : | त्रैमासिक   |
| ३. मुद्रक का नाम  | : | मंजुश्री  |
| ४. राष्ट्रीयता  | : | भारतीय  |
| ५. संपादक का नाम, राष्ट्रीयता एवं पूरा पता                          | : | उपर्युक्त, ए-१० बसेरा, ऑफ़ दिन-क्वारी रोड, देवनार, मुंबई - ४०० ०८८.       |
| ६. कुल पूंजी का एक प्रतिशत से अधिक शेयर वाले भागीदारों का नाम व पता | : | स्वत्वाधिकारी - मंजुश्री  |

मैं, मंजुश्री घोषित करती हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त सभी विवरण सत्य हैं।

(हस्ताक्षर - मंजुश्री)

## अंतिम पड़ाव पर

✍ संतोष परिहार

“दौड़ छबीली मुर्दा आया... बहुत बड़े घर का लगता है, देख कैसी गाड़ियों की रेलम पेल है,” ट्रैक्टर-ट्राली से आती शव यात्रा को देखकर अपने झोपड़े के आगे खाट पर बैठी चावल बीन रही लच्छी ने अपनी दस वर्षीय बेटी छबीली को तेज़ आवाज़ में कहा. ट्राली के पीछे दो पहिया वाहनों का लंबा कारवां चल रहा था. शव यात्रा नदी किनारे बने मुक्तिधाम में जा रही थी. ट्राली नदी के ढलान की ओर मुड़ी है जो इस अंत सफ़र का अंतिम पड़ाव था.

मां की आवाज़ कानों में पड़ते ही छबीली भागकर घर से बाहर निकलकर देखने लगती है.

“देख क्या रही है अरे भाग, यह मुर्दा हाथ से नहीं जाना चाहिए.” लच्छी ने ज़ोर से कहा.

छबीली तेज़ी से दौड़ पड़ती है. दो पहिया वाहनों के कारवां से बचते-बचाते आगे निकलकर तेज़ी से दौड़ते हुए नदी किनारे बने मुक्तिधाम की ओर भागती है. उसे अंतिम संस्कार वाले स्थान पर जल्दी पहुंचकर नंबर जो लगाना था. अगर बस्ती में रहनेवाला कोई उससे पहले पहुंच जाता तो मुर्दे की उतरन पर अपना हक़ जमा लेता. सबको पीछे छोड़ते हुए छबीली के क्रदम चिता जलाये जाने वाले स्थान पर ही थमते हैं. वहां खड़ी हो छबीली हांफने लग जाती है, इतना तेज़ जो दौड़ी थी. खड़े होकर दूर से आती शव यात्रा को देखकर मन ही मन खुश हो रही थी कितने दिनों बाद उसका पहला नंबर लगा था. शव पर चढ़े वस्त्र, आभूषण सब उसे मिलने थे.

शव यात्रा नगर के सेठ नरहरि की थी, शहर के ठेठ दूसरे छोर पर बसी कॉलोनी से पांच सात किलोमीटर का अंतिम सफ़र तय करके आयी थी. सेठ नरहरि देर रात को परलोक सिंधार गये थे. सुबह जब सेठजी के देहांत का समाचार मिला तो उनकी कोठी के बाहर लोग इकट्ठा होना शुरू हो गये थे. कुछ ही घंटों में उनकी अंतिम यात्रा की

तैयारी कर शव को अर्थी पर लिटा रिश्ते नातेदारों के सिर पर धोती शॉल ओढ़ाकर अंतिम आशीर्वाद लेने के बाद शव को अर्थी से पचरंगी डोरों से बांध दिया जाता है. एक ट्रैक्टर-ट्राली कोठी के बाहर मौजूद थी. अर्थी को ट्राली पर रख परिवार और रिश्तेदार अर्थी के आसपास खड़े हो गये. ट्रैक्टर के चालू होते ही राम नाम सत्य है की ध्वनि गूँज उठती है. ट्रैक्टर के आगे बढ़ते ही अंतिम यात्रा में शामिल हुए लोग अपने-अपने दो पहिया वाहनों से पीछे-पीछे चल पड़ते हैं.

मृत देह को मात्र चार कांधों की ज़रूरत होती है. मगर उन कांधों का भार ट्राली के पहियों ने उठा लिया था. शव यात्रा में शामिल लोग भी अपने-अपने वाहनों पर विराजमान थे. नगर के भीड़ भरे रास्तों से जब शव यात्रा गुज़र रही तो ट्राली में अर्थी को रखा देख राह चलने वाले थोड़ा रुककर प्रणाम कर रहे थे. वाहनों के कारवां के साथ जीवन के अंतिम पड़ाव का यह सफ़र निर्विघ्न चल रहा था. ट्रैक्टर की गति के साथ-साथ शव यात्रा में शामिल वाहन चालक बड़ी सावधानी से एक दूसरे से टकराने से बचते हुए अपनी गति बनाये हुए थे.

अर्थी के पास बैठा एक आदमी जिसके हाथ में बड़ा-सा झोला था, झोले में से मखाने, बताशे, खारक और चिल्लर जैसे अर्थी पर से उसारकर रोड पर फेंक रहा था. फटे और गंदे कपड़े पहने कुछ बच्चे जैसे उठाने के लिए ट्राली के साथ-साथ दौड़ रहे थे. दौड़कर सिक्का उठाते जेब में डालते तब तक ट्राली आगे निकल जाती तो फिर आगे भागते, कभी फिसलकर गिरते तो कभी दो पहिया वाहनों से स्वयं को बचा रहे थे.

बच्चों को इस तरह सिक्कों के लिए गिरता-पड़ता देखकर ट्राली में अर्थी के पास बैठे उस आदमी को और जोश आ रहा था. वह लंबे हाथ करके मुट्ठी भर-भर सिक्के रोड पर उछाल रहा था. सही मायने में उस शव यात्रा में





११ मार्च १९६३, बुरहानपुर (म. प्र.).

एम. ए. (हिंदी) डिप्लोमा-पत्रकारिता में (पत्रकारिता महाविद्यालय, नयी दिल्ली), संपादक - दीपमाला (वार्षिक)

: प्रकाशन :

प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय सभी ख्यातनाम पत्र-पत्रिकाओं में अब तक २००० से अधिक रचनाएं प्रकाशित. रेत के महलों का शहर, दूसरा किनारा, संगरेजवा, सूनी अयोध्या, रोयेगा समय याद करके (उपन्यास); काहै को ब्याही विदेश, समय-समय का फेर, दीप तले रोशनी (कहानी संग्रह); बिखरे तिनकों का घरौंदा, छोटे-छोटे महायुद्ध (लघुकथा संग्रह); जाग उठो, कहीं धूप कहीं छाया (कविता संग्रह)

: सम्मान :

मौलिक पुस्तक लेखन सम्मान (पंजाब नेशनल बैंक प्र/का. नयी दिल्ली, वर्ष २००८ से २०१२ तक लगातार); सुभद्रा कुमारी चौहान वर्ष २००९ (मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी भोपाल); पुष्कर जोशी सम्मान वर्ष २०११ (म. प्र. लेखक संघ); अक्षर शिल्पी (राजेश्री प्रकाशन गुना); नर्मदा प्रसाद खरे सम्मान वर्ष २०१२ (कादम्बरी संस्थान, जबलपुर); शब्द रत्नाकर वर्ष २०१२ (बुरहानपुर हिंदी मंच); शब्द सारथी वर्ष २०१३ (नयी दिल्ली); गौर-गौरव सम्मान वर्ष २०१३ (सृजन साहित्य समिति कोरबा); उषा देवी जैन सम्मान वर्ष २०१३ (अलवर राजस्थान); ताप्तीरत्न (ताप्ती महोत्सव समिति बुरहानपुर) अंबिका प्रसाद दिव्य रजत अलंकरण वर्ष २०१३, तमिलनाडु हिंदी साहित्य एकादमी चैत्र (हिंदी सेवी सम्मान); श्री स्वराज प्रसाद त्रिवेदी सरस्वती सम्मान (मॉरीशस).

: संप्रति :

प्रधान रोकड़िया (पंजाब नेशनल बैंक, बुरहानपुर), स्वतंत्र लेखन.

वह बच्चे ही शामिल हुए थे. कांधों पर अर्थी का भार न सही कम से कम पैदल तो चल रहे थे बाक़ी सब लोग तो अपने-अपने वाहनों पर सवार थे.

आज छबीली बहुत खुश थी. जब शव यात्रा मुक्तिधाम के नज़दीक आ गयी तो दो पहिया वाहनों पर सवार लोगों

ने कुछ दूरी पर अपने वाहन खड़े कर दिये थे.

“रोकना भाई, यहां से कांधों पर ले जायेंगे,” ट्राली में बैठे एक व्यक्ति ने ट्रैक्टर चालक को आवाज़ लगायी.

ट्राली के रुकते ही अपने वाहनों को स्टैंड पर लगाकर पैदल आ रहे लोग ट्राली के नज़दीक पहुंच जाते हैं. उनके मन में यह भाव था कि शव यात्रा में आये हैं तो मृत देह को कांधा दें.

“यहां से चिता तक परिवार वाले ही ले जायेंगे,” किसी ने कहा.

कुछ लोगों ने लकड़ियों से चिता तैयार की तो कुछ लकड़ियों के बीच में उपले फंसा रहे थे. कुछ लोग अर्थी से मृत देह को मुक्त कराने में लगे थे. अर्थी पर चढ़ी पुष्प मालाओं को एक ओर डाल दिया जाता है. फिर मृत शरीर पर चढ़ी शॉलें और धोती कुर्तों की बारी आती है. उन्हें देखकर छबीली का मन खुशी से बाग-बाग हो रहा था. बहुत दिनों के बाद पहले नंबर पर छबीली को कोई अच्छा मुर्दा मिला था. वह इतनी खुश थी कि मानो उसकी लॉटरी निकल पड़ी हो. जब शव पर से हटाकर कपड़े एक तरफ़ डाल रहे थे तो छबीली मन ही मन उनके इस्तेमाल के विषय में सोच रही थी. इतने सारे कपड़े तीन चार हज़ार से क्या कम का माल होगा?

सबसे ऊपर वाली बारीक छींट की काश्मीरी मैरून शॉल तो वह खुद के ओढ़ने के लिए रखेगी. उसके कंबल में बड़े-बड़े छेद हो गये थे. जिनमें से हवा आती थी. उसका कथरी तले दुशाले का सुख स्वप्न आज पूरा होना था.

शव से कपड़े उतारकर एक तरफ़ डाल दिये गये. छबीली ललक कर दौड़ी वह कपड़े को उठा पाती उससे पहले किसी ने चिल्लाकर कहा — “ऐ लड़की वहीं पड़े रहने दे उन कपड़ों को, हाथ मत लगाना.”

“इन भिखमंगों ने तो मुक्तिधाम को भी नहीं छोड़ा, शांति से अंतिम क्रिया भी नहीं कर सकते,” भीड़ में से किसी ने कहा.

छबीली के क्रदम खुद-ब-खुद पीछे सरक जाते हैं. वह चुपचाप झुग्गी बस्ती के बच्चों के पास जाकर खड़ी हो जाती है.

“मिल गया कपड़ों का गड्ढा, बहुत गिरपड़ मचा रही थी,” एक बच्चे ने कहा.

“क्या करे... बेचारी का पहला नंबर जो लगा है.”

लघुकथा



✍ प्रबोध कुमार गोविल

कहते हैं दूर के ढोल सुहावने होते हैं। लेकिन कभी-कभी पास के ढोल भी सुहावने लगते हैं। वैसे 'सुहावने' की कोई स्पष्ट परिभाषा भी नहीं है। किसी को कर्कश लगने वाले ढोल किसी दूसरे को सुहाने भी लग सकते हैं। यह भी कहा जाता है कि सुरु में बजनेवाले ढोल, चाहे दूर हों या पास, सुहाने लगते हैं।

एक रात एक राजा ने अपने महल के आंगन में एक ढोल रखवा दिया। कहा गया कि इसे कभी भी, कोई भी आकर बजा सकता है। बस इतनी सी बात थी कि यदि कभी ढोल की आवाज़ से राजा को गुस्सा आया तो ढोल बजाने वाले का सर काट दिया जायेगा, ऐसी शर्त रख दी गयी।

अब भला किसकी हिम्मत थी कि ढोल को हाथ भी लगा दे। ढोल ऐसे ही पड़ा रहा।

अब जनता भी कोई ऐसी-वैसी तो होती नहीं है, कोई न कोई जियाला तो निकल ही आता है जो हिम्मतवर हो। आखिर एक आदमी वहां भी ऐसा आ धमका। उसने आव देखा न ताव, एक डंडा हाथ में लेकर धमाधम ढोल बजाना शुरू कर दिया। वह खुद ही अपने ढोल की आवाज़ में इतना मगन हुआ कि साथ में झूम-झूम कर नाचने भी लगा।

राजा ने अपने कक्ष की खिड़की से झांक कर देखा और हंसते-हंसते लोटपोट हो गया। अब तो आदमी रोज़ वहां चला आता और ढोल पीटने लगता। साथ में नाचता भी। दरबारियों को ईर्ष्या हुई, सोचने लगे, राजा इसे कोई बड़ा इनाम ज़रूर देगा। अगले दिन उन्होंने ढोल को राजा की खिड़की के सकदम नज़दीक रखवा दिया। उन्होंने सोचा — खिड़की के निकट होने से इसकी कानफोड़ आवाज़ से राजा को ज़रूर गुस्सा आयेगा और राजा इसकी छुट्टी कर देगा।

सचमुच ऐसा ही हुआ। राजा को गुस्सा आ गया। अब सारे नगर में चर्चा होने लगी कि दूर के ढोल सुहावने, सब सोचने लगे राजा इसे सज़ा देगा। लेकिन राजा का गुस्सा आदमी पर नहीं, बल्कि दरबारियों पर उतरा, राजा ने सभी पर भारी जुर्माना लगाया। और आदमी को इनाम दिया।

✉ बी-३०१, मंगलम जागृति रेजीडेंसी,

४४७ कृपलानी मार्ग, आदर्शनगर, जयपुर-३०२००४. मो. : ९४१४०२८९३८.

उसके संगी साथी आपस में बतिया रहे थे।

छबीली का पूरा ध्यान तो कपड़ों के ढेर पर था। वह मन ही मन उन्हें गिन रही थी। कितने घर में रखेंगे और कितने बेच देंगे। धोतियां तो रंग कर अम्मा घर में पहन लेगी। उसकी साड़ियां कितनी फट गयी थीं।

शव को अर्था सहित नदी के पानी में डुबकी लगाकर सारे बंधन खोल दिये जाते हैं। फिर उसे उठाकर चिता पर लिटाकर शरीर पर घी लगाते और लकड़ियों से ढंक देते हैं। सूखी तुलसी की छोटी झाड़ी, ढेर सारा देसी घी चिता पर डालने के बाद चिता पर जगह-जगह कपूर रख दिया

जाता है। सेठ नरहरि का बेटा मुखाग्नि देता है। चिता के जलते ही शुद्ध घी के पैकेट खोलकर कुछ लोग आग में घी डालते हैं।

छबीली बड़े आश्चर्य से देख रही थी। वैसे तो चिता जलते देखना उसका रोज़ का काम था। ऐसे मुर्दे कम ही आते थे जिन्हें घी नसीब हो। अधिकांश की चिता तो घासलेट और टायरों में ही जल उठती थी। बड़े लोगों की बड़ी बातें होती हैं। चिता में घी डालने के बाद फेंके गये खाली पैकेट छबीली उठा-उठाकर इकट्ठा कर रही थी। बहुत दिनों से उसने घी चुपड़ी रोटी नहीं खायी थी।

सेठ नरहरि की चिता पूरी तरह जल उठी थी. सब लोग कुछ दूरी पर जाकर बैठ गये थे. कुछ देर बाद एक व्यक्ति उठकर चिता को देखकर बोला — “अब कपाल क्रिया कर देना चाहिए.”

एक बांस का मुंह चीरकर उसमें लोटा बांधा जाता है. लोटे में घी भरकर अग्नि देने वाला चिता के सिर के साइड घी छोड़कर कपाल क्रिया की रस्म पूरी करता है.

सरकते हुए छबीली फिर कपड़े के ढेर के पास पहुंच जाती है. उसे मालूम था इसके बाद सब लोग एक-एक लकड़ी का टुकड़ा चिता में डालकर अपने घर चले जायेंगे.

“ऐ लड़की उन कपड़ों के पास से दूर हट,” किसी ने चिल्लाकर कहा.

“ले जाने दो भाई इन पर इन्हीं लोगों का हक बनता है,” भीड़ में से किसी ने कहा.

“नहीं जी, नहीं जिसकी अमानत उसी के हवाले कर देते हैं.” वह आदमी सारे कपड़े उठाकर जलती चिता पर डाल देता है. चिता से और तेज़ लपटें उठती हैं.

छबीली के मुंह से भद्दी सी गाली निकलती है. उसे ऐसा लगा था जैसे किसी ने उसका सपना तोड़ दिया हो, आंखों से आंसू निकल आये थे.

छबीली के पीछे खड़े बच्चे एक-एक करके चले जाते हैं. वह सब इस उम्मीद में खड़े थे कि अगर उन कपड़ों में से सबको बांट देते तो उनके हाथ भी कुछ लग जाता. मगर उनकी उम्मीद पर पानी फिर चुका था.

मगर छबीली यथावत खड़ी थी. उसका पहला नंबर जो था. ज़बान से धीरे-धीरे गालियां और मन से बहुआएं निकल रही थीं.

सभी लोग चिता के पास जाते हैं. एक आदमी एक कैरी बैग में से चंदन की लकड़ी के टुकड़े निकालकर सबको बांट देता है. चिता में लकड़ी का टुकड़ा डाल, प्रणाम करके सभी चले जाते हैं.

शाम ढल रही थी. शमशान भूमि पर सिर्फ छबीली बची थी. उसके आंसू नहीं रुक रहे थे. कहते हैं मरने के बाद आदमी भूत बनकर सताता है. मगर छबीली कितने समय से मुर्दे का सामान उठा रही थी मजाल है किसी मुर्दे ने उसे सताया हो. उसकी आत्मा तो आज ज़िंदा लोगों ने दुखायी थी.

चिता के उजाले में दूढ़कर उन लोगों का छोड़ा गया

## गज़ल

### रामकुमार पटेल 'यार'

बदन में दर्द है सर से पांव तक ।  
थका ये मर्द है सर से पांव तक ॥  
परेशां कर रही है नींद उसको ।  
बड़ा सा कर्ज है सर से पांव तक ॥  
नहीं है मोरचा लेने योग्य वो ।  
शरूस नामर्द है सर से पांव तक ॥  
ज़रूरी है नहाना-धोना मित्रों ।  
बदन में गर्द है सर से पांव तक ॥  
कभी देखो समाकर उसके दिल में ।  
जिस्म में स्वर्ग है सर से पांव तक ॥  
नहीं होता गर्मी का असर उसको ।  
तन उसका सर्द है सर से पांव तक ॥  
पड़ा है खाट में बरसों से वहीं ।  
मरज इक दर्ज है सर से पांव तक ॥  
रहम का नाम उसके दिल में नहीं ।  
जुल्मी बेदर्द है सर से पांव तक ॥

❧ २७/१ बटारूपाली 'ब',  
पो.आ.गोंडा, व्हाया-सारंगढ़,  
जिला-रायगढ़ (छ. ग.) ४९६४४५  
मो. : ८१०३७५४६२३, ८९८२३७२२३५  
ईमेल : ramkumarpatelyaar@gmail.com

सामान इकट्ठा करती है. छबीली के हाथ लगे थे — घी के कुछ खाली पैकेट, बांस से बंधा लोटा, एक पीतल की थाली जो वे लोग छोड़ गये थे. उन्हें लेकर छबीली भीगी पलकों से घर की ओर चल पड़ती है. भले कपड़े हाथ नहीं लगे हों मगर खाली डिब्बों में जो घी चिपका हुआ था उससे वह आज घी चुपड़ी रोटी तो खा सकेगी. मन में इस बात का संतोष था.

❧ 'मातृ अनुकंपा', सी-९२, इंदिरा  
नगर, बुरहानपुर (म.प्र.) ४५०३३१  
मो. : ८१०९१४०३७९

ई-मेल : santoshparihar30@gmail.com

## पाखंडी

❧ पीयूष द्विवेदी

“ केशर लाल ‘उग्र’ कभी तो कुछ तार्किक व तथ्यात्मक लिख लिया करो कि बस हवाबाजी ही आती है. खुशियां मनी थीं तुम्हारे संघ में गोडसे के कृत्य पर... आज खूब गांधी याद आ रहे हैं... तुम जैसे दोगलों से बहस करने में अपना टाइम नहीं खराब कर सकती... उगलते रहो तुम, जो जी में आये...पर यहां नहीं!” अपनी पोस्ट पर यह टिप्पणी पोस्ट करने के बाद सुप्रिया ने उक्त शख्स की प्रोफाइल खोली और फिर उसका कर्सर सीधे ब्लॉक के विकल्प पर ही आकर रुका. उक्त शख्स को ब्लॉक करने के बाद उसने चैट बॉक्स पर नज़र डाली. ढाई सौ के आसपास लोग ऑनलाइन थे, पर शायद उसके काम का कोई नहीं. अब उसका कर्सर लॉगआउट पर था और वो उस पर क्लिक करने ही जा रही थी कि तभी चैट बॉक्स में एक नाम के आगे की बत्ती हरी हो गयी. उसके चेहरे पर हल्की सी क्रोध मिश्रित मुस्कान आयी और उसका कर्सर तुरंत लॉगआउट से हटकर उस नाम पर पहुंच गया. नाम पर क्लिक करते ही चैट खुल गयी. नाम था विवेक कुमार.

“आज आये क्यों नहीं? पूरे आधे घंटे वेट किया तुम्हारा, पर तुम तो लापता... नंबर भी बंद? थे कहां?” यह लिखकर उसने इंटर का बटन दबाया. विवेक कुमार के आगे यह संदेश खुला... वह अभी ‘वीर सावरकर’ के विचारों से संबंधित एक पोस्ट पर टिप्पणी डालने में मशगूल था. उसने एक नज़र संदेश पर डाली और हल्का मुस्कराया... और बिना जवाब दिये टिप्पणी लिखता रहा... “आज जब पश्चिमी (कु)लेखकों सहित भारत के भी लाल सलामी प्रज्ञाचक्षुओं द्वारा हमारे इतिहास का कचड़ा किया जा रहा है, ऐसे समय में सावरकर और उनके लिखे की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है. इस समय में उनका लिखा हमें हमारे अतीत की सही पहचान करा सकता है.” इस प्रकार टिप्पणी पूरी करके उसने इंटर का बटन दबाया. फिर

सुप्रिया के संदेश की तरफ देखा जो पिछले पांच-छः मिनट से आया पड़ा था. इधर सुप्रिया बेचैन थी कि पांच मिनट हो गये मैसेज भेजे और अब तक जवाब नहीं. कहीं लॉग-इन करके कुछ और तो नहीं करने लगा या कहीं किसी और के साथ तो नहीं न...? कर क्या रहा है आखिर...? ‘विवेक इज़ टाइपिंग’ चैट में ऐसा दिखते ही सुप्रिया को कुछ राहत हुई.

“सॉरी फॉर वेट डियर! कॉलेज के बाद थोड़ा कुछ काम था... उसी में फंस गया था.” यह संदेश आया.

“व्हाट सॉरी! कितना वेट करवाया... और अभी भी रिप्लाय करने में पांच मिनट लग गये? वैसे क्या काम था कि एक फ़ोन तक नहीं कर सके?”

“अरे यार! कॉलेज के बाद अचानक प्रोग्राम बन गया... गो-वध के खिलाफ़ प्रोटेस्ट करने की तैयारी हो गयी. बस उसी में निकल गया. फिर तो प्रोटेस्ट, पुलिस, खींचतान वगैरह-वगैरह में सच कहूं तो तुम्हारा ख्याल ही दिमाग़ से निकल गया.”

“ओह! फिर भी बता दिये होते तो सही रहता. वैसे, ठीक तो हो... कहीं चोट-वोट तो नहीं न लगी?”

“ठीक हूं... तभी तो तुमसे चैटिया रहा हूं वर्ना तो कहीं पड़ा होता... किसी अस्पताल में... आह-उह कर रहा होता.”

“ओके...ओके...अब ज़्यादा नौटंकी नहीं. कहती हूं कि इन फ़ालतू के प्रोटेस्ट वगैरह से दूर रहा करो तो सुनते नहीं हो. ख़ैर छोड़ो! मैं भी किसे समझाने लगी. अच्छा! अब जल्दी बताओ कि कब मिल रहे हैं, फिर मैं लॉगआउट करूं. अभी मोटा सा असाइन्मेंट भी करना है. जल्दी बताओ?”

“मिलते हैं कल उसी टाइम उसी पार्क में, जहां आज मिलना था... लेकिन मेरे प्रोटेस्ट को ग़लत कहने से पहले याद कर लो कि तुम मेरी इस तरह की समझावन कितनी सुनती-मानती हो?”



२१ मार्च १९९४, जि. देवरिया (उ. प्र.).  
 शिक्षा व कार्य : स्नातक के छात्र. दैनिक जागरण,  
 अमर उजाला, राष्ट्रीय सहारा, जनसत्ता आदि तमाम  
 अखबारों में समसामयिक विषयों पर स्वतंत्र लेखन.  
 ई-मेल : sardarpiyush24@gmail.com  
 मो. : 8750960603

इस मैसेज को पढ़ सुप्रिया के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान आ गयी, उत्तर में भी उसने मुस्कान यानी स्माइली ही भेजी और फिर लॉगआउट कर गयी.

लॉगआउट के बाद असाइन्मेंट करने की तरफ मुड़ी, लेकिन उसके दिमाग में अब भी विवेक के ही ख्याल चल रहे थे. और ख्याल हों भी क्यों न! आखिर विवेक के ही कारण तो आज वो सही-सलामत थी. अपने गांव-घर से हजारों किलोमीटर दूर, इस दिल्ली शहर में जहां उसके गिनती के एकाध वो भी बस कहने भर के रिश्तेदार रहते हैं. तब कौन पूछने वाला था उसे, अगर विवेक न होता. लगभग दस महीने ही तो हुए जब एक मंत्री के महिला पहनावों पर दिये विवादित बयान के विरोध में 'आइसा' ने मंत्री के घर के सामने प्रदर्शन का कार्यक्रम बनाया था. वह भी थी बैनर लिये. मंत्री के घर के पास पहुंचते ही पुलिस की धर-पकड़ शुरू हो गयी, धक्का-मुक्की हुई, लाठियां चलीं... पता ही नहीं चला कि अहिंसा और एकजुटता के साथ शुरू हुआ विरोध कब हिंसात्मक होकर बिखर गया. कुछ कंकड़-पत्थर चलाकर गिरफ्तार हुए, कुछ भाग गये. इसी धर-पकड़ में भागते हुए वो एक बाइक की चपेट में आ गयी. बाइक एक पांव को रौंदते हुए निकल गयी थी. चोट बहुत ज्यादा नहीं थी लेकिन इतनी थी कि दर्द के मारे उससे चला नहीं जा रहा था. बाइक वाला तो तुरंत निकल लिया, और कोई भी खुलकर मदद को आगे नहीं आ रहा था. छटपटा रही थी वो कि तभी बगल से गुजर रहा एक

ऑटो रुका और उसमें से एक लड़का उतरा. वह था विवेक. झटपट उसको सहारा देकर ऑटो में बिठाया. ऑटो सीधे अस्पताल पर रुका था. डॉक्टर ने जांच के बाद कोई विशेष अंदरूनी क्षति न होने की घोषणा करते हुए मरहम-पट्टी आदि कर दी. वो नहीं चाहती थी कि इस थोड़ी सी चोट के लिए घर पर लोग परेशान हों. घरवालों की परेशानी से भी ज्यादा दिक्कत उसे पापा से थी क्योंकि वे कभी नहीं चाहते थे कि वो पढ़ने के लिए उनसे दूर दिल्ली जाये. वे वाराणसी में सरकारी मुलाजिम थे और चाहते थे कि सुप्रिया वहीं बीएचयू से अपनी पढ़ाई करे. लेकिन काफ़ी ज़िद और जिरह के बाद वो यहां दिल्ली आयी थी. इन्हीं सब कारणों से जब विवेक ने उसके घर सूचना देने के लिए नंबर मांगा तो उसने मना कर दिया कि यह सूचना मिलते ही पापा आकर उसे घर चलने के लिए भाषण सुनाने लगेंगे. सोचा कि जब ठीक हो जायेगी तब बता देगी. एक दिन अस्पताल में रहने के बाद अपने मित्रों जिनके साथ वो रहती थी, को बुलाकर उनके साथ अपने आवास चली गयी. लेकिन इस एक दिन में विवेक ने उसकी जो मदद की थी, जो ख्याल रखा था, उस कारण विवेक को लेकर एक आकर्षण-सा महसूसने लगी थी वो. इसीलिए तो रिकवर करने के बाद उसने विवेक से दोस्ती बढ़ा ली. फ़ोन से लेकर मुलाकात तक. बातों-बातों में पता चला कि वो डीयू में राजनीति शास्त्र से परास्नातक कर रहा है. वो खुद भी जेएनयू से यही तो कर रही थी. इस तरह विषय तो मिले, पर विचार नहीं...लेकिन विचार अपनी जगह होते हैं और मानवीय संवेदनाएं अपनी जगह. आखिर सब विचारों, वादों से पहले हर कोई एक मनुष्य ही तो होता है. विवेक की मानवीय संवेदना उसने देखी थी इसलिए विचारों को दरकिनार कर उससे करीबी बढ़ाती गयी. उनके बीच वैचारिक चर्चा कभी नहीं छिड़ती. इस तरह दोस्ती बढ़ी... और फिर धीरे-धीरे जाने कब यह दोस्ती उस रिश्ते में बदल गयी जिसे इश्क, लव, प्यार वगैरह कहा जाता है... अभी घड़ी में रात के दो बज रहे थे, असाइन्मेंट पूरा हो चुका था. उसने लाइट बंद की और नींद के हवाले हो गयी.

पार्क काफ़ी हद तक खाली था. काफ़ी दूरी-दूरी पर लोग दिख जाते थे. अधिकतर लोग युवा ही थे. इन्हीं के बीच एक किनारे एक पेड़ के नीचे ये जोड़ा मौजूद था. सुप्रिया की जींस ढकित जांघों पर सिर रखकर लेटे विवेक

का हाथ रह-रहके कभी उसके बालों, कभी गालों, कभी उरोजों पर पहुंच जाता था. सुप्रिया के चेहरे से लग रहा था कि वो विवेक की इन हरकतों से अच्छा नहीं महसूस कर रही. असहजता के भाव थे. लेकिन विवेक को उसकी परवाह कहां वो तो अपनी धुन में मस्त था. धीरे-धीरे उसके होंठ सुप्रिया के चेहरे की तरफ बढ़ने लगे. सुप्रिया के चेहरे पर असहजता बढ़ती जा रही थी.

“विवेक! कब सुधरोगे... यू नो आई डोंट लाइक दिस टाइप ऑफ थिंग्स...फिर भी...?” उसने मनचले हो रहे विवेक को झटकते हुए कहा.

“हे हैलो! इतना क्यों भड़क रही हो यार! अब जवान हूँ, तुम जैसी मस्त जीएफ पास में है तो क्या इतने से भी गया?” विवेक उससे थोड़ा अलग हो गया. सुप्रिया को लगा कि वो थोड़ी ज्यादा ही बेरुखी कर गयी. स्थिति संभालते हुए वो थोड़े हलके लहजे में बोली, “यार जगह तो देखो! कितने लोग हैं... क्या राजनीति की पढ़ाई करते हो, इतना भी नहीं पता कि पब्लिक प्लेस में ऐसे उत्तेजक कृत्य की अनुमति हमारा संविधान भी नहीं देता मिस्टर विवेक!”

“ओहो! हे संविधान की ज्ञानी देवी... तो चलिए न कहीं एकांत में चलकर सहवास करें.” विवेक ने भी उसी के अंदाज़ में जवाब दिया. यह सुन वो मुस्कुरा दी और ज़रा अलग हुए विवेक को अपनी तरफ खींच लिया. उसका यह खींचना विवेक को उत्तेजित कर गया और अबकी उसके होंठ नहीं रुके. सुप्रिया ने भी कोई विशेष विरोध नहीं किया. अगले कुछ पल तक उन्हें भान नहीं रहा कि वे कहां हैं तथा यह बाहरी दुनिया है, वे तो बस एक दूसरे की सांसों और छुआन को महसूसते रहे. कुछ पल बाद दोनों को होश हुआ, लेकिन विवेक का उत्तेजित मन अब भी शांत नहीं था. यह उत्तेजना तो सुप्रिया में भी थी, पर वो जस-तस उसे दबाये हुए थी.

“यार चलो न! कहीं एकदम अकेले में चलते हैं...अभी थोड़ा और मूड है... चलो न!”

“एकदम अकेले में...व्हाट डू यू मीन...यू नो बेटर आई डोंट लाइक...”

“कितनी बार बताओगी... आई नो, यू डोंट लाइक! बट, फिर भी चलो न! ऑनली वन टाइम... फिर नहीं कहूंगा..प्लीज़!”

“अजीब है यार...जब कह रही हूँ कि मुझे अच्छा नहीं लगता ये सब...इन सब चीज़ों का भी एक टाइम होता है...कि कभी भी, कहीं भी...”

“कब टाइम होता है...बुढ़ापे में...यही तो टाइम है, थोड़ा एन्जॉय करने का...”

“ये एन्जॉय नहीं पढ़ाई का टाइम है... इन सब एन्जॉयमेंट के लिए आफ्टर मैरिज बहुत टाइम मिलेगा... खैर छोड़ो! तुम अभी नहीं सुनोगे... मैं जा रही हूँ. दिमाग शांत करो, फिर मिलेंगे.” वह उठने को हुई कि विवेक ने उसका हाथ पकड़कर बिठा लिया, “आफ्टर मैरिज तो ठीक है...पर अगर अभी थोड़ा एन्जॉय कर लेंगे तो क्या हो जायेगा... और तुम कब से शादी के बाद की बात करने लगीं... फ़ेसबुक पर तो ख़ूब सेक्स के अधिकार टाइप बातों की पैरवी होती है... तो यहां क्या हो गया?” विवेक ने वैचारिक चीज़ों को घुसेड़ दिया था.

“वो दूसरी चीज़ है... उसको और इसको मत जोड़ो...” विवेक की बात पर निरुत्तर थी वो इसलिए यह कह के जान छुड़ाई लेकिन फिर कुछ सोचकर बोली, “और तुम भी तो फ़ेसबुक पर ख़ूब संस्कारों, मर्यादाओं का ढोल पीटते हो तो अभी...?” उसके ऐसा कहने के बाद विवेक भी निरुत्तर हो गया था. विवेक ने उसके हाथ पर से अपनी पकड़ ढीली कर दी. वो कुछ पल बैठी रही, फिर उठी और, “दिमाग ठंडा हो तो फ़ोन करना...फिर मिलते हैं, ओके! बाय!” कहके चली गयी. विवेक कुछ पल वहीं बैठा रहा फिर एक तरफ़ निकल गया. आज पहली बार उनके बीच मौजूद वो विचारधारात्मक टकराहट, जिसे जानते हुए भी वे गौण रखना चाहते थे, अचानक प्रत्यक्ष हो गयी थी. और संयोग कि इस वैचारिक टकराव में अपने-अपने विचारों के साथ दोनों ही पराजित हुए थे.

“हैलो विवेक! यार आज नहीं मिल पाऊंगी..कुछ काम आ गया है इसलिए आना मुश्किल है. सो प्लीज़ डोंट वेट. सॉरी!”

“ओके स्वीटहार्ट! फोकस ऑन योर वर्क...आय विल मैनेज़... टेक केयर!”

“थैंक्स यार! लव यू...” यह कहके सुप्रिया ने फ़ोन काट दिया और दोस्तों के हजूम की तरफ़ बढ़ी. यह जेएनयू के भीतर का ही कोई स्थान था. लगभग सभी लड़के-लड़कियां एक गोलाकार मेज़ के अगल-बगल कुर्सियां लगाकर बैठे थे. सुप्रिया ने भी एक कुर्सी लेकर बैठते हुए कहा, “सो, फ़ाइनली...व्हाट इज़ प्रोग्राम कामरेड...?”

“प्रोग्राम तो फ़िक्स ही है...बस टाइम एंड प्लेस

की बात चल रही है.” एक बोला.

अगले कुछ मिनटों तक उनकी चर्चा चलती रही और फिर कुछ निर्णय हुआ. उनका जो प्रेसिडेंट था, वो बोला — “कामरेड्स लिसेन केयरफुली! तो फ्रायनली यह तय रहा कि कल कॉलेज के बाद उन खोखली सभ्यता, नकली मर्यादा वालों के सामने ही हमारा आंदोलन होगा... उससे पहले आज सोशल साइट्स पर इवेंट्स, पोस्ट्स वगैरह के जरिए इसकी जो प्रमोशन हो रही है उसे और फैला दिया जायेगा...फिर मिलते हैं कल उन संघियों के कार्यालय के सामने...”

“बिलकुल ऐसा ही होगा, कामरेड!” सब एक साथ बोले.

“सो ओके! कल तक के लिए लाल सलाम!”

“लाल सलाम!”

‘माय बॉडी माय राईट’, ‘नहीं चलेगी मोरल पुलिसिंग’ जैसे बैनरों, नारों से सजा हुआ अगले दिन तय कार्यक्रम के हिसाब से निकला. बहुत अधिक संख्या तो नहीं थी, पर जो भी थे उत्सुक हुए चले. लड़कों की अपेक्षा लड़कियां कम थीं. पर जो थीं उन्हीं में एक सुप्रिया भी थी. संघ कार्यालय के सामने आंदोलन कहा जाने वाला वह कृत्य कुछ समय तक होता रहा. संघ के कुछेक समर्थकों ने उसे रोकने को ज़ोर लगाया पर जो होना था, होता रहा. बदन से बदन, होंठ से होंठ रगड़े गये. लड़कियां कम थीं, लड़के ज्यादा...सो एक लड़की कई-कई लड़कों का इस आंदोलन में सहयोग कर रही थी... मीडिया के कैमरे इस अदभुत आंदोलन के नज़ारों को कैद कर रहे थे. कुछ समय में पुलिस आ गयी. कुछ पकड़े गये, कुछ भाग गये... और फिर यह आंदोलन अधिक देर तक नहीं टिका. जल्दी ही सब समाप्त!

“सुप्रिया! ये सब क्या है...? ये कैसे फोटोज़, वीडियोज़ दिख रहे हैं मीडिया में?” कड़क आवाज़ थी विवेक की.

“मैं समझी नहीं...अब अगर तुम कल के आंदोलन पर कुछ कह रहे हो तो रहने दो... अभी घरवालों को समझा के परेशान हूँ...अब मैं तुम्हें नहीं समझा सकती...”

“व्हाट! नहीं समझा सकती... मैंने उस दिन थोड़ा सा एन्जॉय करने को कह दिया तो मुझे संविधान, टाइम, शादी के बाद जैसे ज्ञान देने लगीं... और आज कितने लड़कों के साथ चुम्मा-चाटी कर रही हो... तो कहती हो

कि समझा नहीं सकती...’

“तुम फिर दो अलग बातों को जोड़ने लगे...तुमने उस दिन जो कहा वो अलग बात है...और ये अलग...इट्स जस्ट अ प्रोटेस्ट...”

“अच्छा प्रोटेस्ट बनाया है जी! प्रोटेस्ट के नाम पर मजे लो...क्या आयोजन किया है मार्क्स की औलादों ने...”

“कंट्रोल विवेक ! ये कुछ ज्यादा हो रहा है...तुम्हारी ऐसी चीज़ों में मैंने कभी कोई इंटरफ़ेयर नहीं किया...तुम भी दूर रहो...”

“मैं कोई किसी को पकड़ के चूमने-चूसने का आंदोलन थोड़े न करता हूँ...जो तुम्हें इंटरफ़ेयर की ज़रूरत हो...मैं भी जाता हूँ किसी के साथ यही करने...फिर मत करना इंटरफ़ेयर..?”

“स्टॉप ! यू कैन नॉट अंडरस्टैंड माय फ़ीलिंग्स... जाओ... जिसके साथ...जो दिल में आये करो... बट मुझे छोड़ो... कॉल मी नेवर..!” झुंझलाहट में यह कहके सुप्रिया ने फ़ोन काट दिया. विवेक को लगा था कि सुप्रिया उससे माफ़ी वगैरह मांगेगी लेकिन उसके ऐसे व्यवहार से विवेक का गुस्सा और बढ़ गया. वो समझ नहीं पा रहा था कि क्या करे. एकदम बदहवास सी हालत हो गयी थी उसकी.

इधर सुप्रिया ने झुंझलाहट में बोल तो दिया, पर जब थोड़ा शांत हुई तो उसे अपनी गलती का अंदाज़ हुआ. उसने सोचा कि चलो थोड़ी देर बाद विवेक को फ़ोन करेगी, तब तक उसका गुस्सा भी ठंडा हो जायेगा. यह सोच वो तैयार होकर कॉलेज निकल गयी. लंच टाइम में उसने विवेक को फ़ोन किया, पर उसका फ़ोन बंद था. कॉलेज ख़त्म होने के बाद भी वो लगातार उसका नंबर मिलती रही, लेकिन वही — फ़ोन बंद. उसकी चिंता बढ़ती जा रही थी कि तभी विवेक आता हुआ दिखा. वो काफ़ी खुश हुई...कि तभी वातावरण उसकी चीखों से भर गया. पास पहुंचते ही विवेक ने उस पर चाकू के दनादन कई वार कर दिये थे. वो वहीं ढेर हो गयी. यह देख मौजूद लोग अवाक़ थे कि तभी विवेक ने अपने मुंह में कुछ डाल लिया और देखते ही देखते वह भी वहीं गिर गया. उसके अंतिम शब्द जो सुनाई पड़े — सॉरी जान!

✍ द्वारा श्री राजेश दुबे,

आर एफ बी लैटेक्स लि.,

प्लॉट नं. ७८, एनएसई ज़ोन,

गौतमबुद्ध नगर, नोएडा-२०१३०५.

मो. : ८७५०९६०६०३

कथाबिंब / जनवरी-मार्च २०१५

# लीक

✍ मदन मोहन प्रसाद

**स**ब कुछ ठीक नहीं चल रहा था मोनू बाबू के लिए. अगर ऐसा होता तो वे शहरी जीवन छोड़ कर इस गांव-गंवई में नहीं आ जाते. हित-दोस्त, पत्नी, बहू-बेटे सबसे कट कर एकांतवास करने मातृभूमि पर आये थे वो. जैसे बच्चा थक-पिट कर मां की गोद में शरण लेता है और आश्रय ढूंढता है. मोनू बाबू को गांव छोड़े तक्ररीबन पचास वर्ष बीते थे. नौकरी, उन्हें जन्म स्थान से बहुत दूर खींच ले गयी थी. मर्द का मर्द है नौकरी. उसकी धार पर चलना पड़ता है आदमी को. औरत को जितना नाच मर्द नचाता है उससे कहीं ज़्यादा नाच नौकरी उसे नचाती है. मोनू बाबू इसके भुक्तभोगी थे.

कस्बा अब काफ़ी बदल गया है. माटी के घर पक्के मकान में तब्दील हो गये हैं. खानगी स्कूल अब प्लस टू हो गये हैं. पक्की सड़क गांव की चौपाल, मिठवा इनार के बगल से गुज़रती है. चमचमाती मोटर कारें और बाइकें भरी पड़ी हैं. सुविधाएं यहां भी हैं जो शहर में होती हैं, फिर भी गांव गांव है और शहर शहर. मिट्टी का ढहा घर अगर यहां किसी का बचा है तो वह मोनू बाबू का है.

पचास के दशक की बातें याद हैं मोनू बाबू को. तब गांव में सवारी के नाम पर बैलगाड़ी हुआ करती थी. गर्मी के दिनों में खेत के आर-पगार काट कर उसके लिए राह बनायी जाती थी. एक बार लीक लग गयी तो उस पर गाड़ियां चला करती थीं. पिताजी ने उसी लीक को इंगित करके उससे कहा था — “लीक से सीख लो बेटा. लीक पर चलोगे तो राह नहीं भूलोगे. लीक ही तुझे सही जगह पहुंचा देगी.” अबोध मन पर पिता की बात पक्की मोहर थी उसके लिए. लीक पर ही तो चला है वह जीवन भर. इस लीक पर चलते-चलते उसकी गाड़ी कब की बे-लीक होकर बियावान जंगल में भटक गयी उसे इसका भान तक नहीं हुआ. अब उसे लीक नहीं दीखती. न आगे, न पीछे, न दायें, न बायें. लीक अब सपने की बात हो गयी.

राजू मोनू बाबू का इकलौता बेटा है. सारे आस-अरमान उसी पर हैं. उसने अंग्रेज़ी शिक्षा पायी है. इसके बूते उसे ऊंचा सरकारी पद मिला है. वह कोई लीक-उकीर नहीं मानता. लोक व्यवहार, रीति रिवाज का उस पर कोई असर नहीं है. वह बने बनाये रास्ते पर भरोसा नहीं करता. लकीर का फ़कीर होना उसे पसंद नहीं है. एक बार वह उसे लीक की बात बता रहा था, उसे गंवारा नहीं हुआ. तो उसने कहा — “पुराने रास्ते पर चलकर आज का जीवन नहीं जिया जा सकता पापा! वे रास्ते आगे अंधकार की ओर ले जाते हैं. अब नयी सड़क है, नयी सवारी है, हवाई जहाज है, जेट है, दौड़ने के लिए, उड़ने के लिए. अब तीस-चालीस का पहाड़ा नहीं पढ़ा जाता. उसके लिए तो कैलकुलेटर है, कंप्यूटर है.”

‘लीक-लीक गाड़ी चले, लीक चले कपूत ।

ये तीनों बे-लीक चले, शायर, शेर, सपूत ॥’

मोनू बाबू अवाक हो गये थे, उसकी बातें सुनकर. इस दोहे में वह खुद कपूत बनकर रह गये थे. अब और क्या समझाना था उसे! खुद समझदार हो गया है राजू. एक दिन वह भी आया जब राजू ने एक अंग्रेज़ी दुल्हन के साथ घर पर दस्तक दी. “कौन है यह?” उसने उससे पूछा.

“पत्नी है मेरी. आपकी कुलवधू अमेरिकन लेडी है पापा! इंटरनेट पर मैंने शादी तय की थी और सरप्राइज़ देने के लिए आपसे गुप्त रखा था.” उसने कहा. पुत्र के इशारे पर बहू ने उसको नमस्ते कहा और पांव छुये. पांव तो उसे छुआना ही था. जब बेटा ही झुक गया तो उसके ऐंठने में क्या रखा है?

उसकी आंखों में खून उतर आया. ऐसी गिरावट उसके खानदान में होगी उसने कभी सोचा भी नहीं था. न जाने किस जाति-धर्म की होगी, क्या संस्कार होंगे, क्या रीति-रिवाज होगा? इस अज्ञात भय से उसका मन कांप





०८ फरवरी १९४८:  
खोपिटा, भोजपुर (बिहार), स्थातक विज्ञान

: प्रकाशन :

'कथाबिंब', 'हंस', 'आम आदमी', 'नागरी',  
'सनद', 'साहिती साटिका', 'समकालीन  
अभिव्यक्ति', पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित,  
'सावित्री का सच' और दो कहानी संग्रह  
प्रकाशित.

: संप्रति :

स्वतंत्र लेखन तथा सामाजिक सरोकार.

गया. कितनी आस बांधी थी उसने. कितना खुश हुआ रहता था कि बेटा अफसर है परंतु बेटा तो नाक का नेता निकला. एक गोरी चमड़ी पर फिदा हो गया और उसकी नाक काट दी. हाईकोर्ट के जज साहब को उसने बात दी थी, उसकी शादी के लिए. वह लड़की लक्ष्मी भी थी और सरस्वती भी. अब वह उनसे क्या कहेगा? काठ मार गया मोनू बाबू को.

“क्या हुआ पापा? आप कुछ बोलते क्यों नहीं. खुश होओ. अंग्रेजी दुल्हन है. बड़े जतन से इसे लाया हूं. सौ में एक है. एकदम चौबीस कैरेट गोल्ड है, हॉल मार्क वाली.”

“ठीक ही है, जब तुम्हें ठीक लगती है तो सब ठीक है.” और क्या कहता वह.

कुछ चीजें लीक की होती हैं, लीक पर ही चलती हैं और फलदाई होती हैं. अपने आवास पर शमी का पेड़ मोनू बाबू ने ही रोपा था. घर से बाहर निकलते समय दायें शमी का पेड़ हो तो रास्ते में कोई काल कंटक नहीं पड़ता, ऐसी लोक मान्यता है. यह पेड़ पच्चीस साल पुराना है. अब यह बूढ़ा हो चला है. ऊपर का मुख्य तना टूट हो कर

सूख गया है. इसको फलते-फूलते मोनू बाबू ने देखा है और साथ-साथ अपनी श्रीवृद्धि भी. अब मोनू बाबू के सर के बाल गायब हो गये हैं. कनपटी पर उसके मात्र स्मृतिचिन्ह बचे हैं. बूढ़े शमी का हाल भी वैसा ही है. मोनू बाबू अक्सर पेड़ के समांतर चलती अपनी ज़िंदगी की कथा कहा करते हैं. शमी का एक दूसरा पौधा राजू भी लाया था. उसने उस पौधे को निकास द्वार के बांयी तरफ लगाया. मोनू बाबू ने उसे दांयी ओर ही रोपने की बात कही थी, साथ-साथ भावनात्मक और धार्मिक प्रचलन की भी बातें समझायी थीं. राजू ने कहा दांयी ओर एक साथ दो पेड़ रोपने से क्या फ़ायदा है.

“शमी का पेड़ निकास के दांयी ओर ही शुभ होता है. वैसे भी बड़ा पेड़ सूख चला है.” मोनू ने कहा, “यह सब कहने सुनने की बात है पापा. पेड़ पेड़ है, इसे कोई भावनात्मक मोड़ देना ठीक नहीं है. अगर यह शुभ है तो शुभ ही करेगा. दांये हो या बांये. हमें लकीर का फ़कीर नहीं होना है. दुनिया कहां से कहां आ गयी और आप पौधे को पकड़े बैठे हैं.” राजू ने कहा.

कुछ दिन गुज़रे. शमी के बांये पेड़ ने जड़ पकड़ी, हरा हुआ और बढ़ने लगा. उस पर राजू की देख-रेख थी, साथ-साथ उसकी दुल्हन की भी. उस पर वह अपना समय देती थी.

मोनू बाबू अब लॉन में कुर्सी डालकर बैठते तो दोनों पेड़ों को देखते. कभी कभार उन्हें लगता कि जवान होता हुआ शमी राजू है और मरता हुआ शमी वे खुद हैं. यह समय बांये पेड़ का ही है. जब सारी मान्यताएं बदल गयी हैं तो इस शमी के स्थान की कौन पूछ है. इसी उधेड़बुन में मोनू बाबू का मन हिचकोले खा रहा था.

उपेक्षा से मर्माहत थे मोनू बाबू. अपनी पीड़ा से जैसे भीतर से धधक रहे थे, परंतु अपनी सीमा से ऊपर आग नहीं उठ पाती थी, जैसे सागर की ज्वाला. परंतु समय जब जलता है तो हृदय ही नहीं जलता, काया भी जलती है. खून जलता है, हाड़-मांस जलता है. वैसे तो नयी दुल्हन सास-ससुर की बड़ी इज़्जत करती थी, परंतु एक बात उसके गले नहीं उतरती थी कि वे उसके साथ क्यों रहते हैं. उसकी नयी ज़िंदगी है, जिसके खुलेपन में बूढ़ा-बूढ़ी आंख की किरकिरी बने फिरते हैं. एक ओर गिद्धदृष्टि उसे छेदती है और दूसरी बिन पूछे पचास तरह की रोक-टोक और सवाल जवाब. मिनट मिनट चाय-पानी की फ़रमाइश,

सेवा फ़रमावरदारी और चिल-पों. बुढ़ापे में पेट की आग और तेज़ हो जाती है जिसे बार-बार ईंधन झोंकना पड़ता है. पानी पेट्रोल हो जाता है.

सारे तोहमत अब उस पर पड़ने लगे थे. बहू ने खुल कर प्रस्ताव रखा, मम्मी, पापा से अलग रहने का. राजू की जुबान नहीं थी. गोरी चमड़ी की चकाचौंध में वह अंधा, बधिर और गूंगा हो गया था. उसके लिए पत्नी ही वैतरणी थी, चाहे डुबोये या नैया पार लगाये.

राजू को देख मोनू बाबू को दया आती थी. पिता को देख राजू के पास वैसा कोई भाव नहीं था. पत्नी का कसता शिकंजा उसकी गर्दन तक आ पहुंचा था. उसे लगा पत्नी ठीक ही कह रही है. बाबू की सेहत के लिए भी यही ठीक है कि वे चिंतामुक्त जीवन जियें. एक अजीब मानसिक यंत्रणा से गुज़र रहे थे मोनू बाबू. शमी का बड़ा पेड़ भी शायद वैसा ही भुक्तभोगी था. उसके चाहने पर भी छोटा पौधा उसके पास नहीं आ सकता था. उसके धड़ और जड़ में उतनी ताकत नहीं रही कि मिट्टी फोड़ कर छोटे पेड़ के पास जा सके. नियति का सत्य भी यही है. धरती फट कर अलग हुई जा रही थी और बाप-बेटे में अलगाव पैदा कर रही थी.

सुबह के पांच बजे थे. मोनू बाबू अपना बिस्तर समेट चुके थे. पत्नी उन्हें देखने आयी और पूछा, “बिस्तर समेट रहे हो! क्या बात है?”

“मेरा मन उचाट हो गया है.”

“क्यों ! क्या बात है?”

“गांव जाने को मन कर रहा है, रात भर बचपन की यादों में खोया था. मिठवा इनार, अमराई का पेड़, टोला-पड़ोस के हित-दोस्त, सब याद आ रहे हैं. रिटायर होने के बाद ही सोचा था, वहां रहने को. ग़लत जगह हमने अपनी ठौर बना ली. बहू ठीक ही कह रही थी. अब हमें गांव लौट चलना चाहिए. अपनी जन्मभूमि की माटी, जैसे उड़ जहाज के पंछी...तुम भी चलो. पैसे की कोई दिक्कत नहीं है. एक नौकर रहेगा, दाई रहेगी. बचपन की यादें होंगी. जब तक जीवन है हाथ में हाथ डाले रहेंगे. जब हाथ छूट जायेगा तो साधु हो जायेंगे.

“यह क्या उलटी सीधी बातें कहते हैं? आपको जाना है तो जाओ. मैं कहीं नहीं जानेवाली, बेटे-बहू को छोड़कर. कल पोता-पोती होगी तो कौन धरेगा उसे. मैं कहीं नहीं जा सकती.” उसके जाने पर राजू की कोई

प्रतिक्रिया नहीं थी. उसने पिता की इच्छा को ही सर्वोपरि माना. जहां मन रमें वहीं अच्छा है. यहां रहो तो ठीक, गांव रहो तो ठीक. वैसे गांव-घर भी नहीं देखने से सब कुछ लुट जायेगा.

गांव रहते-रहते मोनू बाबू को चार माह गुज़र गये थे. टूटा खपरैल, टूटी दीवारें, आंधी, बरसात को झेलता उनका जर्जर शरीर. मन तो अनवरत चलने वाला पथिक है. यह कभी रुकता नहीं. बिजली-सा ऊपर नीचे, दायें बायें कहीं भी जा सकता है. मोनू बाबू की देह क्षीण हो रही थी, स्मृति धुंधली पड़ रही थी और मन की लकीरें टूट रही थीं.

मन एक बार डोला था मोनू बाबू का दीपावली के मौक़े पर सिर्फ़ एक दिन के लिए बेटे के पास जाने की इच्छा थी. कैसे रहता होगा? पत्नी कैसी होगी? कहीं उपेक्षा की शिकार तो नहीं है. बहुत सहती हैं औरतें बुढ़ापे में. कलेजे से साटती हैं बहू को. पराये घर की लड़की, घर की बात समझ जाये, कुलवधू की मर्यादा समझे, सिर्फ़ इतने भर के लिए पत्नी के लिए रानी होती है औरत परंतु वह उसे गंवारा नहीं जब तक बहू को वह असली रानी न बना दे.

मोनू बाबू नहीं गये पत्नी-बेटे को देखने. अभी कुछ जान थी उनमें, मानसिक और शारीरिक यंत्रणा सहने के लिए. “अभी रात बाक़ी थी, बात बाक़ी थी...?”

समय और गुज़रा, यादें आती, जाती रहीं. बड़ा दिन आया. सर्दी बेजोड़ थी. मोनू बाबू की तबीयत ठीक नहीं चल रही थी. ऐसे में मां के साथ राजू को दरवाज़े पर आते देख उनकी आंखों की ज्योति तेज़ हुई.

“कैसे आयीं.” पत्नी की ओर नज़र डालते हुए पूछा.

“तुम कैसे हो! तबीयत ठीक नहीं लगती.” बिना जवाब दिये एक सवाल पत्नी ने छोड़ा.

“हां, स्वास्थ्य कुछ मंदा है. बहू कैसी है!”

“पता नहीं, अभी वह मैके गयी है!” पत्नी बोली.

“कहां?”

“अमेरिका, और कहां!” आखें फाड़ कर वह बोली.

“अमेरिका चली गयी! कैसे! कब गयी?” मोनू बाबू ने पूछा.

“कैसे जाते हैं लोग. हवाई जहाज से गयी. चार माह हुए. दीपावली का वक्रत था. कुछ टकराव था बेटे के साथ. वह मुझे यहां भेजना चाहती थी, राजू को यह नागवार

ओ खेवनहार

दयारांकर 'सुबोध'

जाने कितनों को  
पाए लगाया युगों से  
पर खुद कभी न जा सका पाए.  
पाए जाने वाले  
पहुंच गये कहां से कहां ?  
पथ पर विकास के,  
पर वह पड़ा रहा वहीं  
शिलालेख-सा  
बिना शिलालेख के,  
ताकता रहा घाट  
राम की - अपने खेवनहार की सायास  
आयेंगे वे और करेंगे उद्धार  
उसके पाषाणवत-जीवन का  
अपने जीवंत-स्पर्श से.  
लोगों ने लगा लिये  
तंबू, झंडे जाने कितने ?  
व्यापाए के भेले के  
इस पाए — उस पाए  
पर वह बना रहा कुंभ में, महाकुंभ में  
घट का न घाट का.  
बचाता रहा डूबने से  
डूबने वालों को मझाघाट से

बिना किसी दक्षिणा के,  
पुरस्कार के  
सिखाता रहा तैरना  
तैरना नहीं जानने वालों को  
पर खुद गया नहीं कभी उस पाए  
तैरकर नदी विकास की छल की,  
विश्वास की  
देता रहा सदा अंगूठा सकलव्य की तरह  
प्रत्येक लक्ष्य वेध पर.  
करता रहा प्रदक्षिणा  
जीवनभर अमरकटक से खंबात तक  
इस पाए से उस पाए !  
पर अब आ गया है समय,  
बह चुका बहुत पानी  
उठा पतवार  
जा पहुंच जा उस पाए  
ओ खेवनहार  
बहुत बह चुका पानी !  
बहुत बह चुका पानी !!

ईडी-०४, एमपीईबी कॉलोनी, रामपुर,  
जबलपुर-४८२००८. मो. : ९२२९४६७०४४

गुजरा. दोनों तनाव में रहने लगे. फिर मां की बीमारी के नाम पर वह नैहर लौट गयी. अब वह वापस नहीं आयेगी.” सजल नेत्रों से वह बोली.

मोनू बाबू के नेत्र बंद हो गये. कुछ देर शांति चाहते थे. दांये हाथ की तलहथी दिखाते पत्नी को शांत रहने का संकेत दिया. नेत्र खुले तो पत्नी-बेटे को गमगीन पाया. राजू ने कहा — “जो हुआ ठीक हुआ पापा! मम्मी को मैं कैसे छोड़ सकता हूं. आप इस दुर्दशा में हो, यह सब मेरे कारण हुआ है.”

“नहीं ठीक तो नहीं हुआ राजू परंतु तुम ज्यादा दोषी

नहीं हो. खैर अब क्या करना है कुछ तो सोचा होगा?” उन्होंने कहा.

“अब आप लौट चलो पापा! मेरे पास, मेरे लिए!” रोते हुए राजू ने कहा.

“लौटता तो नहीं परंतु लौट चलूंगा, जरूर लौटूंगा. आज ही शाम को.” कुछ देर रुक कर — मेरा आशियाना देख लो. उजड़ा ब्यारह इहता खंडहर और बूढ़े शमी के पेड़-सा सूखता मेरा आशियाना!

८३० बी, नेऊरा कॉलोनी,  
खगौल, पटना-८०११०५,  
मो. : ९४३०००१८२१

कथाबिंब / जनवरी-मार्च २०१५

## पाँवर, वैसा और परिवार

✍ विक्रम सिंह

**मे**रा जन्म बिहार में हुआ. शिक्षा पश्चिम बंगाल में हुई. गांव मेरा पंजाब में पड़ा. नौकरी मुझे बंबई में मिली. भाषाएं मुझे भोजपुरी, बंगाली, पंजाबी, हिंदी सब आ गयीं. नहीं आयी तो बस अंग्रेजी. जिसकी मुझे सबसे ज्यादा जरूरत पड़ी. वह भी बोल लेता अगर पापा ने मुझे हिंदी मीडियम से ना पढ़ाकर अंग्रेजी मीडियम से पढ़ाया होता. ऐसा भी नहीं था कि पापा ने कोशिश नहीं की थी. पापा ने सर्वप्रथम मुझे अंग्रेजी स्कूल में डाला था. नर्सरी से लेकर पहली क्लास तक मुझे अंग्रेजी स्कूल में ही पढ़ाया था. मगर हर दिन पापा मुझे अंग्रेजी के कुछ शब्द पूछते तो मैं कुछ नहीं बोलता था. दरअसल पापा को गुटखा खाने की आदत थी. मुंह में गुटखा टूँसे रहते थे. वह जब भी मुझे पढ़ाने बैठते उस वक़्त भी गुटखा ही मुंह में लिये रहते थे. मुंह में गुटखा होने की वजह से ही मुझे उनकी बात ठीक से समझ नहीं आती थी. मैं चुपचाप रहता था. स्कूल में भी पापा कई बार जाकर बोलते कि मेरा लड़का रवि कुछ नहीं जानता है. मगर स्कूल की मैडम हर बार यह कहतीं, “नहीं ऐसी बात नहीं वह सब कुछ जानता है.” पापा कई बार मां को भी डांटने लगते कि तुम इसे पढ़ने क्यों नहीं लेकर बैठती हो? मां कहती, बाबा बैठती तो हूँ अब आप सोचते हैं वह एक दिन में अफ़सर बन जाये. अभी बच्चा है वह. मगर पापा का कहना था बिल्डिंग खड़ी करने के पहले मज़बूत नींव तैयार करनी पड़ती है. तभी वह टिकी रहेगी. मां मुझे पढ़ाती थी. यूँ तो मां भी मेरी नवीं तक ही पढ़ी लिखी थी. मगर मां के पढ़ाने के अंदाज़ से यह साफ़ पता चलता था कि मां पढ़ने लिखने में अच्छी थी. अगर उसे पढ़ाया जाता तो वह ख़ूब पढ़ती. क्योंकि मां ने ही मुझे गुणा, भाग सब सिखाया था. मगर पापा को क्या सूझी कि उन्होंने मुझे सरकारी हिंदी स्कूल में डाल दिया था. इससे पापा को दो फ़ायदे हुए थे एक तो पैसे बचे दूसरा पापा को अब यह लगने लगा कि मैं बहुत कुछ सीख रहा हूँ. लेकिन

सही मायने में मैं वैसा ही था जैसा पहले था. लेकिन पापा को लगा कि मैं जो चाहता हूँ वह अब पूरा हो जायेगा. दरअसल पापा मुझे अफ़सर के पद पर देखना चाहते थे. जो वह ख़ुद नहीं बन पाये थे. पापा कोलियरी में हाज़री बाबू थे. यूँ तो वह अपनी नौकरी से काफ़ी खुश थे मगर ना जाने क्यों वह अपने साहब लोगों से ख़ूब चिढ़ते थे. खुश वह इसलिए थे क्योंकि तनख़्वाह के साथ-साथ उनकी ऊपरी कमाई भी थी. हुआ यूँ कि कोलियरी में काम करने वाले ज्यादातर कर्मचारी पियक्कड़ थे. वे ड्यूटी पर नहीं आते और पापा को फ़ोन कर देते कि हाज़री बना दीजिएगा. उसके बदले में पापा को पैसे मिलते थे. कई बार तो मैं ही फ़ोन उठाता था. पापा से कह देता कि आपका फ़ोन आया था, हाज़री बनाने के लिए कहा है. सही मायने में पापा ने घर पर फ़ोन भी इसी काम के लिए लगा रखा था. उन दिनों मोबाइल नहीं था. लैंडलाइन भी कुछ ही भाग्यशालियों के यहां हुआ करती थी. जगह-जगह पीसीओ हुआ करते थे. ख़ैर जब मोबाइल का चलन आया तो पापा ने भी मोबाइल ले लिया था. फिर जगह-जगह से पीसीओ उठ गये थे. पीसीओ वालों ने रिचार्ज और मोबाइल बेचने का काम शुरू कर दिया था. पापा के लिए एक काम अच्छा यह हुआ कि अब कभी किसी की हाज़री बनाते तो उन्हें मोबाइल में पैसे डालने के लिए कह देते थे. पापा को कभी भी अपने पैसों से रिचार्ज नहीं कराना पड़ा था. गुटखा तो पापा को बख़्शीश में देकर चले जाते थे. सब कुछ अच्छा होते हुए भी पापा को इस बात की निराशा थी कि उन्हें अफ़सर वाला बंगला और आने जाने के लिए एंबेसेडर कार नहीं मिली थी. उन्हें मज़दूर वाली शिफ़्ट बस में ही जाना पड़ता था. मज़दूर वाला क्वार्टर ही उन्हें रहने के लिए मिला था. कॉलोनी और मज़दूर से पापा को कोई दिक्कत नहीं थी. बस उन लोगों के बच्चों से पापा को एलर्जी थी. उन्हें लगता इन



१ जनवरी १९८१, जमशेदपुर (झारखंड),  
शिक्षा : मैकेनिकल इंजीनियरिंग.

**: प्रकाशन :**

समरलोक, संबोधन, किस्सा, अलाव, देशबंधु, प्रभात खबर, जनपथ, सर्वनाम, वर्तमान साहित्य, परिकथा, आधारशिला, साहित्य परिक्रमा, जाहन्वी, परिदे, हिमतरु इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित. एक कहानी निकट पत्रिका में स्वीकृत. एक कहानी माटी पत्रिका में स्वीकृत. एक कहानी वसुधा पत्रिका में स्वीकृत. वारिस (कहानी संग्रह) २०१३.

**: संप्रति :**

मुंजाल शोवा लि. कंपनी में सहायक अभियंता के पद पर कार्यरत.

पियक्कड़ों के बेटों के साथ खेल-कूद कर कहीं मेरा बेटा भी कम पढ़ा-लिखा ना रह जाये. लेकिन आज ऐसा लगता है कि उन पियक्कड़ों के बेटों से बदतर जिंदगी मेरी थी. किसी मुर्गी की तरह पाल-पोस कर पापा ने मुझे हलाल के लिए नौकरी में भेज दिया था. कंपनी में भी पापा की तरह गुटखा खाने वाला मैंनेजर मिल गया था. वह सुबह नौ बजे कंपनी में घुसते ही काम बता देता था. और फिर खुद ए. सी. केबिन में बैठा फ़ोन पर काम के बारे में पूछता रहता था. एक काम होने पर फिर दूसरा काम तत्काल बता देता था. आठ घंटे के बाद जब जाने का समय होता तो वह फिर कोई काम बताकर एक दो घंटे रोक लेता था. और हम सबको यह कहता, “जब हम आपकी उम्र में काम करते थे तो कंपनी में चौदह-चौदह घंटे रोकते थे. फिर कंपनी आपको काम के पैसे दे रही है तो काम तो करना ही पड़ेगा.” जैसे हम कंपनी की रखैल हों. जब जो मन करेगा करेगा. दरअसल जब उसके साहब कभी कंपनी में आते तो वह उसे हाथ मिलाने के लिए अपना हाथ बढ़ाते तो मैंनेजर साहब अपना हाथ उनके पैरों की तरफ़ बढ़ा देते थे अर्थात पैरों में गिर कर चरण छू लेते

थे. वह भी यही चाहते थे कि हम सब भी उनके साथ ऐसा ही करें. गर्मियों में बारह-तेरह घंटे काम कर शरीर चिकन की तरह पक जाता था. महीने में तनख़्वाह भी बहुत कम थी. दसवीं के बाद मैं आर्ट्स लेकर पढ़ना चाहता था. मगर पापा ने ज़बरदस्ती मुझे साइन्स लेकर पढ़ने को कहा था. वह कहते अब टेक्निकल युग चल रहा है. हर तरफ़ मशीन से ही काम लिया जा रहा है. मैं कहता नहीं पापा अब कंप्यूटर युग चल रहा है. सारे काम कंप्यूटर से हो रहे हैं. मां कहती, “नहीं अब आर्ट्स का युग है. हर तरफ़ आर्ट्स वाले ज़्यादा नाम कमा रहे हैं.” लेकिन आख़िरकार पापा की बात चली क्योंकि कुछ रिश्तेदारों ने कहा, “कंप्यूटर और टेक्निकल बात एक ही है.” बारहवीं के बाद पापा ने मुझे प्राइवेट कॉलेज से इंजीनियरिंग करवा दी थी. पढ़ाई पूरी करने के बाद मैं नौकरी के लिए धक्के खाने लगा था. मैंने देखा कि एक से बढ़ कर एक फ़र्स्ट क्लास लड़के नौकरी के लिए भी धक्के खा रहे हैं. तब मुझे ऐसा महसूस हुआ था कि पापा की तरह ही हर एक के पिता यही चाहते होंगे कि मेरा बेटा अफ़सर बने. अब ये ही पढ़े-लिखे लड़के अफ़सर की जगह किसी भी पोस्ट में काम करने के लिए तैयार हो जा रहे हैं. आज इस वजह से छोटी पोस्ट के लिए भी पढ़े-लिखे लड़कों की वैकेन्सी निकलने लगी है. मुझे तो ऐसा लगने लगा था कि एक वक़्त ऐसा आयेगा जब जमादार का काम भी पढ़े-लिखे लड़के करने लगेंगे. लेकिन जहां मेरा मन इस नौकरी में नहीं लग रहा था वहीं मेरे कितने मित्र मुझे नौकरी के लिए फ़ोन करते कि मैं उन्हें किसी तरह अपनी कंपनी में नौकरी दिला दूं. जब मैं उन्हें अपनी परेशानी बताता तो मुझसे कहते यार जब तुम्हारा यह हाल है तो सोचो हम सब बेरोज़गारों पर क्या बीतती होगी? आख़िरकार वे यह सोचते कि यह नौकरी नहीं लगाने के लिए बहाने मारता है. इस वजह से मेरे दोस्त भी मुझसे नाराज़ हो गये थे. लेकिन मैं सच कहता हूं. मेरे मन में यह था कि मेरी तरह मेरे दोस्त किसी पूंजीपति की कंपनी में काम करके अपना भविष्य ना ख़राब कर लें. क्योंकि मुझे यह समझ में आने लगा था कि क्यों पापा मुझे अफ़सर बनाना चाहते थे. इतिहास गवाह है कि राजे-महाराजे भी एक दूसरे से लड़ाई पाँवर और पैसों के लिए करते थे. आज भी दुनिया में सब कुछ पाँवर और पैसों के लिए होता है. पाँवर होगी तो पैसा होगा या पैसा होगा तो पाँवर होगी. अगर मैं आई. ए. एस., आई. पी. एस. होता तो मेरे पास पाँवर और पैसा दोनों

होता. और जब यह दोनों होंगे तो नाम भी होगा. अर्थात्, उसी की हर तरफ़ चर्चा होगी. लोग सलाम ठोकेंगे. पैसा विदेश में है. और विदेश जाने के लिए अंग्रेज़ी अच्छी होनी चाहिए जो मेरी नहीं थी. सच बताऊं जब मैं अपनी कंपनी में इंटरव्यू के लिए आया था उस वक़्त विदेश के कुछ लड़के-लड़कियां कंपनी ट्रेनिंग के लिए आये थे. एच. आर. ने उनमें से एक आध को अपने साथ इंटरव्यू में बैठा लिया था. विदेशी लड़के-लड़कियां मुझसे अंग्रेज़ी में सवाल करते जा रहे थे. मैं बहुत कोशिश के साथ लड़खड़ा कर उनके जवाब दे रहा था. मगर अंत पर मुझे सलैक्ट कर लिया गया मगर मुझे एच. आर. के मैनेज़र ने यह कहा कि आपकी अंग्रेज़ी ठीक नहीं है. हमारा इरादा आपको लेने का नहीं था. मगर आप की टेक्निकल नॉलेज़ अच्छी है इसलिए आपको रख रहे हैं. लेकिन आपको इंजीनियर नहीं ट्रेनी इंजीनियर — जी. ई. टी. रखेंगे. उस दिन पहली बार अपने पर शर्मिंदगी आयी कि अपने ही देश में साला विदेशी यह कह कर चला गया कि इसकी अंग्रेज़ी अच्छी नहीं है. मन तो कर रहा था कि यह कह दूं, पहले उस अंग्रेज़ से कहो कि हिंदी सीख कर आये फिर मेरा इंटरव्यू ले मगर ऐसा करने से अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारना था. क्योंकि पापा बताते थे उनकी नौकरी कोल्यरी में लोडर में हुई थी. पापा ने साहब से कहा था कि वे बारहवीं पास हैं. मगर साहब ने कहा, हमें तो टोकरी से कोयला उठाने वाला लोडर चाहिए. पापा ने मज़बूरी में नौकरी पकड़ ली थी. क्योंकि पापा यह मानते थे कि पहले आये मौक़े को हाथ से जाने नहीं देना चाहिए. मगर पापा की क्लिस्मत अच्छी थी कि बारहवीं पास होने की वजह से पापा को हाज़री बाबू बना दिया गया था. मैं भी हाथ में आये पहले मौक़े को जाने नहीं देना चाहता था. बस उस दिन पहली बार लगा कि जब भारत में ही नौकरी अंग्रेज़ी के बूते मिलेगी और पैसे डॉलर की जगह रुपयों में मिलेंगे तो मैंने अंग्रेज़ी सीखने में अपना पूरा जोर लगा दिया था. क्योंकि मैं अब पैसे नहीं डॉलर कमाना चाहता था. लेकिन मां मेरे इस फ़ैसले से नाराज़ हो गयी थी. और पापा तो मेरी शादी के लिए लड़की ढूंढने में लग गये थे. वह सीना तान कर सबको कहते, “बेटा मल्टी नेशनल कंपनी में इंजीनियर है.” दरअसल पापा लड़की नहीं पैसों वाली मोटी पार्टी खोज रहे थे. पापा साफ़-साफ़ कहते कोई मुझे दो-तीन लाख में इंजीनियर लड़का ला कर दिखा दे ना. पापा ने मेरी क्रीमत बारह लाख और एक कार

रखी थी. मगर पापा को यह नहीं पता था कि किलो के भाव से इंजीनियर मार्केट में उपलब्ध हैं. ख़ैर कुएं के मेढ़क को दुनिया से क्या मतलब था. आख़िरकार पापा को एक मुर्गा मिल ही गया क्योंकि उसकी बेटा मंजु भी इंजीनियर लड़के के साथ ही शादी करना चाहती थी. यूं तो एक सरकारी स्कूल का टीचर का रिश्ता भी लड़की को मिल रहा था. मगर लड़की ने यह कह रिश्ता टाल दिया था कि झोला लटका कर स्कूल जाने वाले टीचर से मैं शादी नहीं करूंगी. क्योंकि उसके पापा खुद एक स्कूल में टीचर थे. झोला लटका कर स्कूल जाया करते थे. जो वह अपने जवान पति में नहीं देखना चाहती थी. ख़ैर सब बात पर आप पर्दा डालिए. पापा को यह रिश्ता मंजूर हो गया. बारह लाख पापा के एकाउन्ट में आ गये. कार दरवाजे के पास आकर खड़ी हो गयी थी. पापा का सारा सपना पूरा हो गया था मगर मेरा सपना चूर हो गया था.

शादी के करीब पंद्रह दिन बाद मैं कंपनी वापस गया तो मैनेज़र साहब ने गुटखा चबाते हुए मुझसे कहा, “बड़ी लंबी हनीमून मना कर आये?” मन तो किया इससे यह पूछूं कि तो क्या आप ब्याह के अगले दिन ही वापस आ गये थे?

लेकिन सच कहूं तो मैं अक्सर अब कंपनी से बहाने मार कर छुट्टी लेकर घर चला जाता था. जब मैं दोबारा कंपनी लौट कर जाया करता तो मैनेज़र मुस्कुराकर सबसे पहला सवाल यह कहता, “अब कब छुट्टी जाओगे?” उसकी इस बात से मेरे मन में भी आता इससे पूछूं, “तो क्या तुम्हारी तरह सारा दिन-रात कंपनी में पड़ा रहूं?” छुट्टी से आने के बाद वह मुझे ढेर सारे पेंडिंग काम बता दिया करता था. और फिर जब कभी छुट्टी मांगने जाता तो मुझसे कहता, “यार बीबी को भी यहीं लेकर आ जाओ ना, यहीं साथ रहो.” सही मायने में मैं कंपनी से छुट्टी पत्नी के लिए नहीं लेता था. दरअसल मैं अब इस कंपनी से काफ़ी ऊब गया था. और विदेश जाने की सोच ली थी. मेरी पत्नी ने भी इस बात के लिए मुझे मना नहीं किया था. मेरी पत्नी मेरे चेहरे से ही साफ़ समझ गयी थी कि नौकरी में मेरा मन नहीं लग रहा है.

लेकिन पापा एकदम नहीं चाहते थे कि मैं विदेश जाऊं. वह कहते, “अच्छी ख़ासी नौकरी है तुम्हारी, महीने में तीस हजार दे रही है. धीरे-धीरे और बढ़ जायेंगे.” पापा यह बात इसलिए कहते थे कि जब उन्हें नौकरी मिली थी तो महीने में मात्र सात सौ रुपये मिलते थे. लेकिन वह

जमाना कुछ और था. यह पापा नहीं समझ पाते थे. क्योंकि जब पापा रिटायर होने वाले थे तो उन्हें इस बात की चिंता थी कि वह नये वेतन बोर्ड लगने के दो दिन पहले रिटायर हो गये. इस वजह से उन्हें फंड के पैसे कुछ कम मिले. वह हमेशा मां से कहते, “साला जब तनख्वाह बढ़ी तब ही रिटायर हो गये. नौकरी का असली मज़ा कहां ले पाये हम.”

कुल मिला जुलाकर मैंने विदेश जाने के लिए संघर्ष शुरू कर दिया था. तब मुझे एहसास हुआ कि सिर्फ मैं ही नहीं पूरे देश के कई हिस्सों से लड़के-लड़कियां बाहर जाकर डॉलर कमाना चाहते थे. मैं भी उस भेड़-चाल में शामिल हो गया था. कितनों को तो अपनी ज़मीन बेच कर कनाडा मज़दूरी करना पसंद था. क्योंकि उनके लिए खेती से दो कौड़ी के पैसे कमाने से कहीं अच्छा था कनाडा जा कर मज़दूरी करना. मैं भी ऐसी कंपनी की तलाश में था जहां मुझे बिना पैसों के बाहर का वीज़ा मिल जाये. यह इतना आसान ना था. मैं घंटा-घंटा भर कंप्यूटर पर बैठ कर बाहर देश की नौकरी तलाशता रहता. हर जगह अपना बायोडाटा मेल करता. मेरी क्रिस्मट में बाहर जाना लिखा था और सेडविक कंपनी में मेरी नौकरी लग गयी. मुझे आस्ट्रेलिया के लिए वीज़ा मिल गया. वीज़ा मिलने के बाद मैं सीना फुलाकर अपनी पहली कंपनी में रेज़िगनेशन लेटर देने गया तो मैंने मैंनेज़र को जब यह बात बतायी तो उसने अपना चश्मा उतार कर टेबल पर रख दिया क्योंकि उसकी सामने की नज़र ठीक थी और मुझे ग़ौर से देखने लगा. मेरे रेज़िगनेशन लेटर पर साइन कर उसने कहा, “हमारी शुभकामना है आप आगे बढ़ें.”

पापा जो कभी विदेश जाने से मुझे मना करते थे वे भी अब सीना फुला कर सबको कहते कि बेटा मेरा आस्ट्रेलिया में इंजीनियर है.

आस्ट्रेलिया में मुझे सब कुछ अच्छा लगा. यहां मेरे कई दोस्त बने. मगर सब दोस्त मेरे कॉलोनी के पियक्कड़ पिताओं के दोस्त जैसे नहीं थे. मैं अपनी कॉलोनी के दोस्तों से कभी भी किसी भी जगह मिल लेता था. जब मन किया तब किसी के भी घर चला जाता था. पर यहां उसके विपरीत था. यहां मिलने के पहले फ़ोन पर जैसे एपाइन्टमेंट लेना होता था. अर्थात आप बिना किसी को फ़ोन कर उसके घर नहीं जा सकते थे. भले वह मेरे पड़ोस में ही क्यों न रहता हो?

कंपनी में मेरी दोस्ती एनिया नाम की एक लड़की

से भी हुई. शुरू-शुरू में कंपनी के काम में वह मेरी ख़ूब मदद करती थी. क्योंकि मेरी और उसकी वर्किंग टेबल अगल-बगल थी. क्योंकि प्रोडक्शन का काम ख़त्म होने के बाद बहुत सारा पेपर वर्क पूरा करना पड़ता था. एनिया पेपर वर्क के काम में ख़ूब माहिर थी. ऐसा नहीं था कि मैं और दोस्तों से मदद नहीं मांगता था. वे हमेशा कोई न कोई बहाना मार देते थे. शायद वे यह सोचते थे कि इसका काम हम करें, सैलरी यह ले! एक दिन इसी वजह से बॉस ने सबके सामने मेरी ख़ूब खिंचाई की थी. क्योंकि पेपर वर्क में मुझसे कोई ग़लती हो गयी थी. एक दिन इसी काम को करने में मैं काफ़ी परेशान हो रहा था, और एनिया अपनी टेबल से मुझे देख पा रही थी. उसने ख़ुद आकर मुझसे पूछा था, “तबियत ठीक नहीं है तुम्हारी. कोई काम हो तो मुझे बताओ मैं कर देती हूं.” उस दिन के बाद से वह हमेशा मेरी मदद के लिए तैयार हो जाती थी. जब भी किसी काम में फंसता तो उसे बुला लेता. वह आकर मेरी समस्या का हल कर देती थी. धीरे-धीरे वह मुझे अच्छी लगने लगी थी. यूं तो कंपनी में हम काम की ही बात ज़्यादा करते थे. मगर हम दोनों जैसे चाहते थे कि कुछ इधर-उधर की बात करें. अभी तक हमारी दोस्ती कंपनी तक ही सीमित थी. लेकिन एक दिन उसने मुझे अपने घर भी बुलाया था. उस दिन काम से लौटकर मैं रात उसके घर गया था. घर पर चाय की जगह उसने मुझसे पूछा था, “वोदका है पियोगे?”

“क्या तुम यह सब लेती हो?”

“नहीं, मगर कंपनी में मिलती है तो ले लेती हूं.”

वह उठकर वोदका की बोतल और एक कोल्ड ड्रिंक की बोतल ले आयी. मैंने दो पेग बनाये. ज़िंदगी में पहली बार किसी लड़की के लिए पेग बना रहा था. उसने पूछा — “पत्नी की याद आती है?”

“कभी-कभी जब रात में अकेला होता हूं.”

“अक्सर स्त्री की कमी रात में ही खलती है.”

“तुम क्या अकेली रहती हो?”

“समझो, सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है.”

“मतलब समझा नहीं!”

“शादी हुए तीन साल हो गये हैं. लेकिन लगता है कि शादी हुई ही नहीं. उसे बस पैसा, नाम, शोहरत कमाने की भूख है. वह हमेशा काम के सिलसिले में शहर से बाहर रहता है. मेरी ज़रूरतों को कभी नहीं समझ पाता है. अब तो जैसे वह मुझे भूल-सा गया है. उसके सामने मैं नंगी

भी सो जाऊं तो उस वक्रत भी जैसे उसकी ज़रूरत में नहीं, काम ही हो.”

उसे हल्का-हल्का नशा हो रहा था. वह पूछती है, “तुम्हारे खाने के लिए क्या बनाऊं.”

कुछ नहीं, खाना ऑर्डर कर देता हूँ. तुम बैठ कर बातें करो. मैं एक पेग और बना देता हूँ.

मैंने कहा, “तुम बहुत अच्छी हो तुम्हारे साथ ऐसा नहीं होना चाहिए था.”

“थैंक्स कि तुमने मेरे बारे में इतना सोचा.”

कहती हुई वह मेरे साथ लगकर बैठ गयी और मेरी गर्दन पर हाथ फेरने लगी. उसने अपनी स्कर्ट भी थोड़ी ऊपर कर ली. उसकी सुडौल और गोरी रंग की टांगें देखकर मेरे मन में लहर-सी दौड़ गयी. काफी समय तक देसी रंग की टांगें देखते रहने के कारण गोरी टांगों पर मोह अधिक आने लगा था. अब तक मैं अच्छा खासा नशे में आ गया था. सब कुछ एक स्वप्नलोक की तरह लग रहा था. मज़ा आ रहा था. पता नहीं यह मज़ा वोदका की वजह से, या डॉलर कमाने की वजह से, या गोरी स्त्री मिलने की वजह से था. लेकिन मज़ा आ रहा था. एनिया ने सब कुछ समझते हुए भी प्रश्न किया, “क्या तू मेरे साथ सोयेगा?”

उस दिन के बाद से मैं एनिया के साथ कितनी बार हमबिस्तर हुआ था. मैंने एक बार एनिया से पूछा, पति के रहते हुए तुम यह सब कर रही हो तो क्या तुम्हें अच्छा लगता है?

“जब पति को मुझे अकेले छोड़कर रहने में अच्छा लगता है तो मैं क्या करूँ? शादी-शुदा स्त्री की ज़रूरत को वह समझता नहीं.”

उसकी इस बात से मेरा नशा जैसे उतर-सा गया था. मैं अपनी पत्नी के बारे में सोचने लगा था. क्या वह भी इस वक्रत कहीं किसी से अपनी ज़रूरत पूरी तो नहीं करती होगी? क्या मैं भी अपनी ज़रूरत पूरी कर रहा हूँ. मेरा मन कहीं और चला गया था. एनिया मेरे बदन से खेल कर अपनी ज़रूरत को पूरा करती थी.

अचानक मैंने भारत लौटने का निर्णय लिया. जब मैं घर आया तो देखा पापा बरामदे में बैठे पेपर पढ़ रहे थे. पापा ने आंखों में पॉवर का चश्मा लगा रखा था. पापा को पहली बार चश्मे में देख रहा था. हां मां ने मुझे फ़ोन पर बताया था कि पापा की नज़दीकी की नज़र कमज़ोर हो गयी है. मुझे देखते ही नज़र कमज़ोर होने के बावजूद पापा

लघुकथा

## हमारा अच्छा बेटा !

श्याम कुमार राई

शाम को शर्मा जी घर लौटे तो पत्नी ज़रा उदास-उदास दिख रही थीं पूछा, “क्या हुआ?”

“कुछ नहीं,” पत्नी बोली.

“पार्वती, बताओ न, क्या हुआ? कुछ तो है जो तुम नहीं बता रही हो.”

“आज फिर बेटे ने मुझे एक छोटी-सी बात पर भला-बुरा कहा और डांटा भी,” पत्नी ने मुंह खोला.

“कौन-सी छोटी सी बात...?”

“यही कि बेटा रात को समय पर ही घर लौट आया कर, ज़माना ठीक नहीं है. बस इतना ही कहा था मैंने. उसने मुझे खूब भला-बुरा कहा.” फिर थोड़ा रुककर बोली, “उसके मुंह से अजीब सी गंध भी आ रही थी, मेरे ख़्याल से शराब की गंध थी.”

“तुम्हें थप्पड़-वप्पड़ भी मारा क्या?”

“नहीं तो, ऐसे क्यों पूछ रहे हो...?” पत्नी आश्चर्यचकित होकर पति को देखने लगी...

“नहीं पार्वती, हमारा बेटा तो तब भी अच्छा है तुम्हें मारा-पीटा नहीं. उस दिन खन्ना जी बता रहे थे कि उनके पड़ोसी के बेटे ने अपने माता-पिता दोनों की लात-घूसों से काफी बुरी तरह से पिटाई की और बुरी-बुरी गालियां दीं सो अलग.”

पार्वती यह सुनकर सन्न रह गयी, साथ ही अपने बेटे पर आया गुस्सा काफ़ूर हो गया.

कांथरा, पुरानी बस्ती,

सलुवा-७२११४५ (प. बं.)

मो. : ९९३२६७६४२७

अपना चश्मा उतार कर मुझे गौर से देखने लगे. ऐसा लग रहा था जैसे वे अपनी असली नज़रों से ही मुझे देखना चाहते हों. मेरे एकाएक आने की वजह से वह चकित हो गये थे. मगर उससे कहीं ज़्यादा खुश भी हुए. मुझे देखते ही पूछा, “अरे अचानक चले आये सब कुछ ख़ेरियत तो



है?” पापा ने खुशी से मां को आवाज़ लगायी, “अरे सुनती हो बाहर देखो कौन आया है?” फिर पापा ने मुझसे कहा, “तुम्हारी मां योगा कर रही है.” हां, मां को मेरे जाने के बाद डायबिटीज़ हो गया था. दरअसल मेरे विदेश जाने के बाद मां दिन-रात मेरी चिंता करती रहती थी. मां को मैं हमेशा कहता, यहां मैं एकदम घर जैसे ही रहता हूं. मगर मां फिर भी टेंशन में रहती थी.

अंदर से मां की आवाज़ आयी, “कौन आ गया सुबह-सुबह?”

“बेटा आया है.”

मां एकदम से बरामदे में आ गयी. आते ही मुझसे पूछा, “बेटा सब कुछ ठीक तो है?”

“हां, सब ठीक है बस आप लोगों की याद आयी तो मिलने चला आया.” हम सब बरामदे में ही बैठ गये. मां ने मंजु अर्थात् मेरी पत्नी को आवाज़ लगायी. “बहु चाय ले आ रवि आया है.” मां मुझसे ऑस्ट्रेलिया के बारे में पूछने लगी. वहां के खान-पान, लोग, सड़कें, बाज़ार इत्यादि.

कुछ देर बाद मेरी पत्नी चाय लेकर आयी. उसका चेहरा पसीने से भीगा हुआ था. उसने मामूली-सी एक सूनी साड़ी पहन रखी थी. साड़ी से मसालों की बू आ रही थी जैसे रसोई के मसाले पल्लू में बांध के रखे हों. मां-पापा सामने बैठे होने के कारण वह मेरे पास ना बैठ दोबारा रसोई में इतना कहकर चली गयी, “आप नहा लें. मैं नाश्ता तैयार करती हूं.” पापा ने कहा, “मंजु आज बेटा आया है सब कुछ इसकी पसंद का बनाना.” मंजु ने हां में सर हिला दिया था.

मैं चारों तरफ़ नज़र घुमाकर देखता हूं. घर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था. घर का हर सामान जहां का तहां था. खास कर मेरा ध्यान टीवी पर गया. वही पुराना टीवी था. मैंने पापा से कहा था एल. सी. डी. खरीद लीजिएगा. क्योंकि पापा रिटायरमेंट के बाद अपना ज़्यादातर समय टीवी देख कर ही बिताते थे.

मैं नहा कर ब्रेकफ़ास्ट के लिए टेबल के पास आ चेयर पर बैठ जाता हूं. पत्नी टेबल पर नाश्ता लगाने लगती है. वह पसीने से और ज़्यादा भीग गयी थी. मैंने उसे खाना बनाने से लेकर घर की साफ़-सफ़ाई के लिए नौकरानी रखने के लिए कहा था. मैंने उसे फ़ोन पर कहा था, “कोई नौकरानी रख लेना.” मगर कोई नौकरानी घर में नहीं नज़र आ रही थी.

वह फिर रसोई में दोपहर का भोजन बनाने की तैयारी करने लगती है. रसोई के धुएं और मसालों की गंध अब रसोई से निकलकर मेरे कमरे की हवा को तीखेपन से भरने लगी. मेरे तन बदन में चीटियों-सा कुछ सुरसुराने लगा.

अब तक कॉलोनी में मेरे आने की बात पता चल गयी थी. कॉलोनी की औरतें, अर्थात् आंटी लोग मेरे पास आकर बैठ गयीं. मेरे विदेश जाने की उपलब्धि का गुण गान करने लगीं. “बेटा धन्य भाग्य जो तुम्हें विदेश जाने का मौक़ा मिला. राजू तो कब से कोशिश कर रहा है मगर उसका तो अभी तक कुछ नहीं हुआ.” मेरी तारीफ़ करने के बाद वे असली मुद्दे पर आ जातीं, “बेटा तुम्हारी कंपनी में कोई जगह हो तो बताना.”

क़रीब दोपहर दो बजे मंजु कमरे में आयी. कमरे में घुसते ही मैंने पूछा, “मैंने तुमसे कहा था कोई नौकरानी रखने के लिए फिर तुमने रखी क्यों नहीं?”

“पापा से कहा था. मगर पापा ने कहा कि हम तीन लोग ही तो हैं उसके लिए क्या नौकरानी रखना है. मुझे भी लगा आखिर सारा दिन खाली बैठ कर क्या करूंगी. मां जैसे मेरे साथ काम में हाथ बटाने आती हैं. मगर मैं ही मना कर देती हूं.”

“मैं तुम्हें ऑस्ट्रेलिया लेकर जाने की सोच रहा हूं.”

“नहीं, मैं नहीं जाऊंगी.”

“नहीं जाऊंगी, मतलब?”

“आप तो बूढ़े मां पापा को छोड़कर चले गये. अगर मैं भी चली गयी तो इन्हें कौन देखेगा?”

पांच बजते-बजते वह दोबारा रसोई में चाय बनाने चली गयी.

रात के दस बज रहे थे. रसोई में अब भी वह बर्तन मांज रही थी, बर्तनों की आवाज़ मेरे कानों तक आ रही थी. आवाज़ से मेरे सिर में दर्द होने लगा था. मुझे एनिया की बातें याद आ रही थीं. ऐसा लग रहा था. आज मंजु की इस परिस्थिति का ज़िम्मेदार मैं हूं. आखिर एनिया के पति और मुझमें अंतर ही क्या है?”

बी-ब्लॉक ११,

टिहरी विस्थापित कॉलोनी,

ज्वालापुर, हरिद्वार (उ. खं.)-२४९४०७.

मो. ९०१२२७५०३९

ई-मेल : bikram007.2008@rediffmail.com

## जीवन खेल-तमाशा

✍ रविशंकर सिंह

**बा**त अगर शुरू से न बताऊं तो बात साफ़ नहीं होगी. उन दिनों मैं इक्कीस साल का किशोर था. दुबला-पतला छरहरा बदन. होठों पर पीली चीटियों की कतार की मानिंद मूँछ की भूरी रेखाएं उभरने लगी थीं. उन्हीं दिनों मेरा ब्याह कर दिया गया. अमूमन माताएं छठियारी पूजा की रात से ही अपने बच्चे के ब्याह के गीत गुनगुनाने लगती हैं —

लाली-लाली डोलिया में लाली रे दुलहिनियां,  
पिया की पियारी भोली-भाली रे दुलहिनियां.

छुटपन में मां मेरी टुड्डी पकड़कर प्यार से कहतीं — “जल्दी ही तेरा ब्याह कराऊंगी. तेरी दुल्हन आयेगी, लाल-लाल.” मां की बातें सुनकर पहले तो मैं खुश हो जाता, लेकिन जब ब्याह का अर्थ समझने लगा तो मेरा चेहरा शर्म से लाल हो उठता. खेल-खिलौनों के दिन बीते फिर शुरू हुई क्रिताबों की दुनिया. मां के नेह-छोह के सांचे में ढलकर और पिता की हिदायतों की आंच में तपकर मेरा सजा-संवरा व्यक्तित्व कंचन की तरह निखर उठा. निचली कक्षाओं में अव्वल आने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह बी. एस-सी. तक कायम रहा. मेरा कैरियर उठान पर था. इलाके में मेरी चर्चा आईकॉन के रूप में होने लगी. दूसरी ओर ढलती उम्र में पिताजी की सेहत बिगड़ती जा रही थी. उनके मेडिकल चेकअप में डायबिटीज़ डिटेक्ट हुआ. डायबिटीज़ का नाम सुनते ही घर में हड़कंप मच गया. डॉक्टर ने ताउम्र खाने-पीने में परहेज़ करने और दवा लेते रहने की सलाह दी. उनके स्वास्थ्य-लाभ के लिए एलोपैथी चिकित्सा के अलावा तरह-तरह के घरेलू नुस्खे आजमाये गये. गुडमार की पत्तियां, जामुन की गुठली, करेले का रस और न जाने क्या-क्या उपचार किये गये. किसी ने ओझा-गुनी से झाड़-फूंक करवाने, किसी ने मजार पर चादर चढ़ाने तो किसी ने धार्मिक अनुष्ठान करवाने की सलाह दी. पिताजी झाड़-फूंक के लिए कतई तैयार नहीं

हुए. थक-हारकर मां ने चुपके-चुपके उनके लिए हर पूर्णमासी को सत्यनारायण व्रत-कथा सुनने का संकल्प लिया. इसके लिए एक आचार्य और एक यजमान का होना ज़रूरी था. मां का आदेश हुआ कि मैं यजमान बनूं. मेरी ही उम्र का चौथी कक्षा तक पढ़ा-लिखा पंडित जो क्रायदे से क्रिताब की रीडिंग भी नहीं दे पाता था, उसे कथा-वाचन के लिए चुना गया. गांव में उससे सस्ता और सुलभ कोई दूसरा पंडित नहीं था. व्रत-कथा सुनने के उपरांत मां मुझे उस पंडित के चरण छूकर उसे दक्षिणा देने के लिए कहती. उस समय मेरा मन अंदर-ही-अंदर विद्रोह करता. मैं जानता था कि वह दिनभर गांजा के नशे में टुन्न रहता है और छोटी-मोटी चोरियों के इल्जाम में कई बार जेल जा चुका है. ऐसे व्यक्ति के चरण छूने में मन में घोर घृणा उपजती, लेकिन मां की निष्ठा और विश्वास के लिए मुझे मन मारकर वह सब कुछ करना पड़ता था, जिसका मैं विरोधी था. इन तमाम नुस्खों और कर्मकांडों के बावजूद पिताजी का शुगर-लेबल बढ़ता ही जा रहा था, क्योंकि वे अपना इलाज करवाने के बजाय अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा मेरी पढ़ाई में झोंकते रहे.

एक दिन ऐसा भी आया कि पिताजी ने खाट पकड़ ली. उसके बाद पिताजी ने ज़िद ठान दी — “मैं अपने जीते-जी बहू का मुंह देख लेना चाहता हूं.” पिताजी की ज़िद के आगे मुझे झुकना ही पड़ा. एक अच्छे खासे खाते-पीते ज़मींदार घराने में मेरा ब्याह तय हुआ. पिताजी की सामाजिक प्रतिष्ठा और मेरी पढ़ाई की लगन को देखकर वे लोग मेरे यहां रिश्ता करने के लिए लालायित थे. सच तो यह है, उनकी ज़मींदारी बस नाम की रह गयी थी, वरना मेरी फूस-खपरैल की झोपड़ी में महलों की रानी क्यों आती?

मां की मुराद और पिता की ज़िद पूरी हुई. मैंने मां को जीवन में इतना खुश कभी नहीं देखा. अपने इकलौते



८ अक्टूबर, १९५८ धनौरा, भागलपुर  
शिक्षा : एम. ए., पी-एच. डी.

: प्रकाशन :

हंस, कथादेश, वागर्थ, आजकल, पाखी, वर्तमान  
साहित्य, अलाव, अक्षरपर्व, जनसत्ता, संवेद, जनमत,  
कल के लिए, किस्सा आदि पत्र-पत्रिकाओं में  
लघुकथा, कहानी, व्यंग्य, आलेख, साक्षात्कार,  
समीक्षाएं प्रकाशित.

: संपादन :

अंगचंपा पत्रिका के संपादन में सहयोग.

बेटे के लिए क्या-क्या सपने नहीं देखे थे उसने. मेरे ब्याह में चरखी की तरह नाचती रही मां. हल्दी-उबटन से लेकर देर रात तक ब्याह का गीत गा-गाकर गला खराब कर डाला था उसने. वह मेहमानों से बतियाती तो उसके गले से फटे बांस की तरह 'फांय-फांय' आवाज़ निकलती, जिसका आशय वह अपने इशारे से समझा देती. लोगों की फ़रमाइशें पूरी करते-करते थकती नहीं थी मां. मां ने बहू को देखा तो उसकी आंखें जुड़ा गयीं. गांव भर में अपने गोतिया-दयाद से लेकर परमिन तक से पूछ आयी कि उन्होंने उनकी पतोहू को देखा कि नहीं? पिता की टांगों में न जाने कहां से इतनी ताकत आ गयी कि वे हांफते-डोलते दिन में तीन बार दलान से आंगन में आकर बहू का मुंह देखकर सराहते — 'बहू क्या है, चांद का टुकड़ा. साक्षात सरसती माई आयी है घर में.' वाकई बला की खूबसूरती पायी थी उसने. मैं अक्सर अकेले में उसे देखकर गुनगुनाने लगता — 'ना कजरे की धार, ना मोतियों के हार, ना कोई किया सिंगार, फिर भी कितनी सुंदर हो.' मेरा गीत सुनकर वह लाज से दोहरी हो जाती, तब उसकी सुंदरता और बढ़ जाती. हम दोनों की छेड़-छाड़, मेल-मिलाप को देखकर

मां मुंह फेर लेती.

उन दिनों मेरी पत्नी ने मैट्रिक का इम्तहान दिया था. जिस दिन मेरी पत्नी का रिज़ल्ट निकला पिताजी ने टोले-मोहल्ले में लड्डू बंटवाये. उनकी बहू ने फ़र्स्ट डिविज़न से मैट्रिक पास किया है, यह बताते समय उनके होंठ कांपने लगते और आंखों में खुशी के आंसू छलछला आते. उनकी मुराद थी कि मैं पी. जी. अवश्य करूं और पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बनूं. अपनी शान ऊंची करने के लिए वे चाहते थे कि गांव-जवार के लोगों को बोलना पड़े कि हां भैया, बेटा हो तो दिवाकर जैसा.

पोखर में डूबते गागर की तरह सूरज जब क्षितिज की ओट में धीरे-धीरे डूब जाता, पिताजी अपने हाथों से लालटेन जलाकर मुझे अपने सामने पढ़ने के लिए बैठा देते. बाबूजी मेरे सिर पर स्नेह से हाथ फेरते हुए कहते — "पढ़ो-पढ़ो, रुक क्यों गये ? बिना पढ़े अब गुज़ारा नहीं है." उनकी मुराद थी कि वे मोहन बाबू को कह सकें — "माई सन इज़ ओनली वन पोस्ट ग्रेजुएट इन दिस विलेज़." अपने कम पढ़े होने का गम चोर कांटे की तरह उनके जेहन में चुभता रहता था, जो किसी दबाव में आकर कसक उठता.

वे गुलामी के दिन थे. महात्मा गांधी के आह्वान पर पढ़ाई छोड़कर वे आज़ादी की लड़ाई में कूद पड़े. लाठियां खायीं, जेल गये. उन दिनों पढ़ाई छूटी तो छूट ही गयी. अपने कम पढ़े-लिखे होने का मलाल उन्हें उस दिन हुआ जब गांव में दौरे पर आये दारोगा के सामने तमाम लोगों के बीच मोहन बाबू ने कहा था — "आई एम वनली वन मैट्रीकुलेट इन दिस विलेज़."

पिताजी कई अर्थों में क्रांतिकारी पुरुष थे. तकदीर ने उन्हें जो कुछ दिया, उतने से संतोष करके बैठ जाना उनकी फ़ितरत न थी, उसे बदलकर वे बेहतर विकल्प तलाशते. "होइहें सोइ जो राम रचि राखा" की जगह वे "कर्म प्रधान विश्व करि राखा" पद पर ज़्यादा यत्कीन करते थे. स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल होने के कारण वे चौथी जमात से आगे नहीं बढ़ सके. आज़ादी के बाद भी वे समाज-सेवा में जुड़े रहे. उन्होंने पहले तो नौकरी पर ध्यान नहीं दिया, लेकिन बाद में पारिवारिक बोझ के दबाव में उन्हें नौकरी करनी पड़ी. डिप्लोमा इन फॉर्मेसी की डिग्री लेकर वे एक सरकारी दफ़्तर में कंपाउंडर के पद पर नियुक्त हो गये. कई राजनीतिक मित्रों के प्रयास से उन्हें फ्रीडम-फाइटर पेंशन

योजना के तहत पेंशन भी मिलने लगी. मेरी पढ़ाई में कोई कसर न रह जाये, इसलिए हाई स्कूल की पढ़ाई तक वे मुझे अपने साथ ही नौकरी पर रखने लगे. अब अपनी मर्जी के मुताबिक बन-बैहार में घूमना, नहर में तैरना, और किसी के खेत में घुसकर गन्ने चूसना सब छूट गया. मुझे खुशी केवल एक बात की थी कि अब नहा-धोकर और चिल्ला-चिल्लाकर मानस-पाठ करने से मुक्ति मिल गयी. मेरे उस दुख का कारण भी मैं ही था. मेरी मति मारी गयी थी. घर में ऊंचे ताक पर यत्न से लाल कपड़े में बंधी क़िताब को देखकर मेरे मन में कौतूहल हुआ. मां रोज तैतिस करोड़ देवी-देवताओं को नमन करने के उपरांत उस क़िताब को अगर्बत्ती दिखाना नहीं भूलतीं. एक दिन चोरी-चोरी उस क़िताब को ताक पर से उतारकर मैं पढ़ने लगा. न जाने कैसे मां को भनक लग गयी. वह कमरे में आकर चिल्लाने लगीं — “तुमने सत्यानाश कर दिया, मेरी पूजा भ्रष्ट कर दी. बिना नहाये-धोये क्या रामायण पढ़ी जाती है?” मां ने बोतल में रखे गंगाजल से रामायण को पवित्र किया. अब रोज नहा-धोकर रामायण पढ़ने की मेरी ड्यूटी लग गयी. मैं जोर-जोर से मानस की चौपाइयां-दोहे पढ़ता और फिर उसका अनुवाद मां को सुनाता. मां भाव-विह्वल होकर मानस पाठ सुनतीं. मानस पाठ करने में मुझे कोई दिक्कत नहीं थी, लेकिन स्नान, पूजा-पाठ जैसे कर्मकांड पर मेरा विश्वास नहीं था. ख़ैर, जब गांव छूटा तो बहुत कुछ पीछे छूट गया. यहां मुझे अच्छा परिवेश मिला, अच्छे लोगों का संग-साथ मिला. पिताजी की आमदनी में बढ़ोतरी के साथ हमारी आर्थिक स्थिति पहले से बेहतर हुई.

कहते हैं घूरे के दिन भी घुरते हैं, सो मेरे दिन भी बहुरे. गांव में मेरा घर क्या था, फूस-खपरैल की छप्पर से ढंका मिट्टी की दीवारों से बना घरौंदा था. अब उसकी जगह ईंट-गारे से बने पक्के मकान ने ले ली. चहारदीवारी से घिरा मेरा छोटा-सा घर किसी स्वप्न महल से कम न था. घर बनाने के अलावा पिताजी ज़मीन-ज़ायदाद नहीं बढ़ा सके. परिवार के भरण-पोषण, अपने इलाज और मेरी पढ़ाई में उनकी सारी कमाई चुक जाती. दो-दो प्रोत्तों से मिलनेवाली कमाई की रकम मेरे हॉस्टल के खर्च और साइंस की महंगी क़िताबों के लिए कम पड़ जाती. मुफ़लिसी के बावजूद मेरी ज़िंदगी ठीक-ठाक पटरी पर चल रही थी कि अचानक हमारे परिवार की खुशहाली पर किसी की बुरी नज़र लग गयी. पिताजी की बीमारी घटने के बजाय बढ़ती चली गयी.

उन्हें सदर अस्पताल में भर्ती कराया गया. उनका रिनल फ़ेल्योर हो चुका था. किडनी ने काम करना बंद कर दिया था. मूत्रनली में संक्रमण के कारण वे भयंकर यंत्रणा झेल रहे थे. महीने भर से पिताजी सरकारी अस्पताल के बेड पर ज़िंदगी और मौत से जूझ रहे थे. मां उनके पायताने बैठी तलुवे सहलाती रहतीं. उन्हें डायबिटीज तो था ही फिर न जाने कैसे पैर में एक फोड़ा निकल आया. डॉक्टर ने बताया — “सेप्टीसेमिया हो गया है. गैंग्रीन की तरह यह एक ख़तरनाक बीमारी है.” उनकी यंत्रणा को देखकर मुझे उनके पास जाने का साहस नहीं होता. सामने जाने पर वे मुझसे कुछ बोलते नहीं थे, बस उनकी आंखें गंगा-जमुना की तरह बरसने लगतीं, इसलिए उनके करीब न जाकर मैं खिड़की के बाहर से ही उन्हें चुपचाप देखता रहता. उनकी तीमारदारी के कारण मेरी पढ़ाई बाधित हो रही थी और चिंता के मारे शरीर सूखकर कांटा हो चुका था. दौड़कर दवाइयां लाना, फल लाना, खून का जुगाड़ करना ऐसे ही कामों में मेरा समय बीत जाता. एक दिन कहीं से उनके ब्लड का जुगाड़ नहीं हो सका. मैंने अपना ब्लड चेक करवाया. मेरा ब्लड ग्रुप उनसे मिल गया. ब्लड देने के लिए मैं बेड पर लेटा था. ऐन उसी वक़्त वह डॉक्टर दौरे पर आ गया जो पिताजी का ट्रीटमेंट कर रहा था. उन्होंने मुझे बेड पर लेटा हुआ देखकर कहा — “तुम खून दोगे, तुम? तुम्हारी देह में खून ही कहां है? चलो उठो. मेरा ब्लड ग्रुप भी बी पी जेटिव है. मैं खून दूंगा.” उस दिन डॉक्टर के प्रति कृतज्ञता के भाव से मेरी आंखें भर आयी थीं.

उन दिनों मैं एम. एस-सी. का छात्र था. मेरे डिपार्टमेंट के प्रोफ़ेसर पिताजी का हाल-चाल पूछने अक्सर हॉस्पिटल आ जाते. पिताजी को विश्वास होने लगा था कि उनका बेटा इतना काबिल ज़रूर हो गया है कि उसके कारण बड़े-बड़े प्रोफ़ेसर भी उन्हें देखने कि लिए आते हैं. यह संतोष उस गहन बीमारी में भी उन्हें बहुत सुकून देता था. हॉस्पिटल में महीनों वक़्त गुज़र गया. उनकी बीमारी बढ़ती ही गयी. एक दिन हमारे जीवन में वह मनहूस दिन भी आया, जब पिताजी चल बसे. अस्पताल से जब पिताजी की अर्धी उठायी जा रही थी तो मैंने उस डॉक्टर की आंखों में भी आंसू देखे, जिन्होंने उन्हें अपना खून दिया था. मरीज के लिए किसी डॉक्टर को इतना मर्माहत होते हुए मैंने पहले कभी नहीं देखा था.

पिताजी की मौत अप्रत्याशित नहीं थी. कितनी

शारीरिक यंत्रणा भोग रहे थे वे. उनकी छटपटाहट भरी जिंदगी से मौत भली थी. मुझसे उनका दुःख नहीं सहा जाता. मेरे परिवार, समाज के लोग यहां तक कि मेरी पत्नी उनके ऐन सामने हाथ जोड़कर कहती — “हे भगवान, अब इन्हें उठा लो. इन्हें इस दर्द से मुक्ति दे दो प्रभु.”

पिताजी सबकी बातें सुनते, लेकिन कोई जबाब नहीं देते. उनकी आंखों से बहती अविरल अश्रुधारा स्पष्ट कहती थी कि उन्हें लोगों का यह फ़ैसला कतई मंजूर नहीं है. उनकी कोई साध थी, जिसे पूरी किये बग़ैर वे इस दुनिया से नहीं जाना चाहते थे, लेकिन नियति को यह मंजूर नहीं था. मशान में उनकी चिता धू-धूकर जल रही थी. चिता की लपलपाती लपटों से उनके जीवन संघर्ष की उष्मा आस-पास फैल रही थी. एक गीत मेरे जेहन में गूँज रहा था —

‘जीवन खेल तमाशा है, आशा और निराशा है,  
थोड़े गम हैं, कांटे हैं, जो जिंदगी ने बांटे हैं,  
कोई छूट जाता है, कोई टूट जाता है,  
शीशा हो या दिल हो आखिर टूट जाता है.’

पिताजी के गुजरने के बाद मैंने कभी मां को रोते हुए नहीं देखा. लोग कहते — “काठ का करेजा है इसका. इसकी आंखों के आंसू सूख गये हैं.” सचमुच मां न कभी रोयीं, न घबरायीं. अपनी ममता के आंचल की सुखद छाया में उन्होंने मुझे पाल-पोसकर एक सफल इंसान बनाया.

एम. एस-सी. करने के बाद कुछ दिनों तक मुझे इधर-उधर भटकना पड़ा, न जाने कितने पापड़ बेलने पड़े. अंततः मैंने विधानसभा के सचिवालय में सचिव का पद हासिल कर लिया. मेरे गांव में डीह के अलावा खेती-बाड़ी कुछ खास बची नहीं थी, इसलिए नौकरी में आते ही किराये का कमरा लेकर मां एवं अपनी पत्नी को मैं शहर ले आया. उसके बाद पाई-पाई जोड़कर मैंने शहर में अपना एक आशियाना बना लिया.

पिताजी के पुराने क्रागजातों से मुझे उनका एक पासपोर्ट साइज का फ़ोटो मिल गया था. इसके अलावा घर में उनकी कोई और तस्वीर नहीं थी. मैंने कई बार आग्रह किया था — “पिताजी आप अपना एक फ़ोटो खिंचवा लीजिए.” पिताजी ठहाका लगाते हुए कहते — “अरे, इतनी जल्दी मैं मरूंगा नहीं. अभी तो मैं जिंदा हूँ.”

ऐसी ही बातों से वे मेरे प्रस्ताव को टाल दिया करते. पिताजी की इच्छा के विरुद्ध कोई काम करवा लेना आसान

नहीं था. उन्होंने कोई तस्वीर नहीं खिंचवायी. उसी पासपोर्ट साइज फ़ोटो को मैंने एनलार्ज करवाकर अपने कमरे में लगवा दिया था. मेरी पत्नी रोज उस तस्वीर पर फूल-माला चढ़ाती. मेरे बच्चे कहीं आते-जाते उस तस्वीर को प्रणाम करके निकलते. मैंने ग़ौर किया था कि मां कभी आंख उठाकर भी उस तस्वीर की ओर नहीं देखती थीं. तो क्या मां पिताजी को भूल गयी थी? क्या वे पिताजी से नफ़रत करती थीं? ऐसे ढेर सारे सवाल मेरे अंदर उमड़ते-घुमड़ते रहते थे. इन सवालों का जबाब कौन देता? इसके बावत मां से कुछ भी पूछने का मेरे अंदर साहस नहीं था.

तक़रीबन तीन वर्षों के उपरांत मेरे सवालों का जवाब मुझे खुद मिल गया. पिताजी के गुजरने के बाद तीस साल का समय हहराता हुआ गुज़र गया था. इस दौरान मां ने अपनी पीड़ा को भूभल में रखी गयी आग की तरह अपने कलेजे में इसलिए छुपाये रखा कि उसका इकलौता टूअर बेटा कहीं किसी मोर्चे पर कमजोर न पड़ जाये. मां ने अकेले ही दो-दो भूमिकाएं निभायीं. वह कभी पिता की तरह सख्त बनकर मुझे दुनियादारी की बातें सिखातीं, कभी ममतामयी मां बनकर अपने ममत्व के चंदन-लेप से मेरी सारी पीड़ा हर लेतीं मेरी युवा अवस्था में भी वह मेरी उंगली पकड़कर जिंदगी की रपटीली डगर पर संभल-संभलकर चलना सिखाती. अपने मुहाने पर पहुंचने पर जैसे नदी का वेग कम हो जाता है, ठीक उसी तरह उम्र के आखिरी पड़ाव पर आकर मां बहुत थक चुकी थी. अब मां के दमकते चेहरे पर न तो वैसा तेवर रह गया था, न उसके जीवन में वैसा जोश बाक़ी बचा था. गृहस्थी का जांगर पेरते-पेरते उसकी कमर झुक आयी थी. उसके झुर्रीदार चेहरे की आड़ी-तिरछी रेखाएं उसके जीवन-संघर्ष का इतिहास बयां करतीं. अब वह बहुत बीमार रहने लगी थीं. डॉक्टरों ने बताया कि वह डिमेनसिया की शिकार हो गयी है. यह ऐसी भूलने वाली बीमारी है जो वर्तमान को भुला देती है. वह अपने परिवार एवं अपने परिचितों को भी हैरत भरी निगाहों से निहारती रहतीं. मेरे बेटों को जब शरारत सूझती तो वे अपनी दादी के सामने जाकर खड़े हो जाते. मां कुछ देर तब ग़ौर से देखकर उन्हें पहचानने की भरपूर कोशिश करती फिर थक-हारकर पूछती — “तुम्हारा घर कहां है बेटा?”

“धनौरा.” — बच्चे जानबूझकर झूठ बोलते.

धनौरा मां का मायका है. अपना मायका और वहां

के नाम अभी तक उसकी स्मृति में ज्यों-की-त्यों बसे हैं। बच्चों की बातें सुनकर वह कुछ सोचती, गुनती फिर पूछती — “अच्छा, तो तुम केस्टो का बेटा हो?”

“हां” — बच्चे खिलखिलाते।

“अरे, तुम केस्टो का बेटा कैसे हो सकते हो? उसका बेटा तो बहुत बड़ा हो गया होगा। तो तुम केस्टो का पोता हो?” - मां जिरह करती।

“हां-हां, मैं उसका पोता हूँ.” — बच्चों की फिर वही खिलखिलाहट।

बच्चों को हंसते देखकर मां अचंभित होकर ताकती। वह कुछ बोलती नहीं केवल सोचती रह जाती। शायद उसके मानस में अपना मायका कौंध जाता और वह उन्हीं यादों में खो जाती। मां को इस हाल में देखकर मैं खुद को संभाल नहीं पाता।

वह अक्सर मुझसे पूछती — “दिवाकर कहां है?”

मैं अपने आंसुओं को रोककर कहता — “मां गौर से देखो, मैं ही दिवाकर हूँ.”

मां अनजान निगाहों से मुझे घूरती हुई कहती — “ठीक है तुम हो, लेकिन मेरा बेटा दिवाकर कहां है?”

मुझे कोई जवाब नहीं सूझता। मैं सोच में पड़ जाता कौन है वह दिवाकर, जिसकी मां को तलाश है? क्या वही दिवाकर जो कल तक केवल उसका बेटा था? उस पर उसका एकाधिकार था। हां, अब वह दिवाकर, वैसा दिवाकर कहां रह गया है? यह दिवाकर खंड-खंड में विभक्त है। यह टुकड़े-टुकड़े में बंटा दिवाकर किसी का पति है, किसी का पिता है और कहीं का बड़ा अफ़सर है। इस खंडित व्यक्तित्व के बीच उसका अपना दिवाकर कहां खो गया है? मां की बूढ़ी आंखों को शायद अपने उसी दिवाकर की तलाश है।

यादों का तहख़ाना भी अजीब होता है। दिमाग़ के अंधेरे कोने में परत-दर-परत पड़ी रहती हैं यादें वर्षों-वर्षों। अंधेरी घनेरी रातों में बिजली की कौंध में जैसे पूरा परिवेश क्षणभर के लिए रौशन हो उठता है, उसी तरह किसी समानधर्मी चीज़ों को देखकर भूली-बिसरी बातें यकायक जीवंत हो उठती हैं।

दीवार पर टंगी पिताजी की तस्वीर को गौर से निहारती हुई मां पूछती — “यह तस्वीर किसकी है?”

“मेरे पिताजी की, तुम जानती हो इन्हें?” — मैं कहता।

“हां, बहुत पहले हमारे घर में आया करते थे.” —

मां दिमाग़ पर ज़ोर डालते हुए कहतीं।

“ठीक ही तो कहती है मां, पिताजी कभी-कभी ही घर आया करते थे। आंदोलन, जेल, अपनी पढ़ाई और नौकरी की ज़िम्मेदारियों को निभाने वाले पिता को अपनी गृहस्थी देखने की सुध ही कहां रहती थी। अपनी नौकरी पर पिताजी मां को कभी लेकर नहीं गये। मां घर पर रहकर घर-गृहस्थी, खेती-बाड़ी, ढोर-डांगर संभालती और बाहर-बाहर परदेश में रमण करते हुए पिताजी की उम्र तमाम हो गयी।

मैं मां से पूछता — “मां, तस्वीर में यह जो आदमी है, इसने तुम्हें कभी कुछ दिया है?”

“हां, पहले दिया करते थे.”

“जैसे?”

“जैसे पैसा-कौड़ी, कपड़ा-लत्ता और घर की ज़रूरी चीज़ें। लेकिन उनके दिये हुए कपड़े मेरी पसंद के नहीं होते। फिर भी जो और जैसा देते, मैं चुपचाप ले लेती। उनकी दी हुई खादी की मोटी साड़ियां पहन लेती.”

“तुम विरोध नहीं करती थीं?”

“नहीं, मुझमें उतना साहस नहीं था। वे बड़े कड़क मिज़ाज के थे.”

मां की बातों को सुनकर लगता कि कितना झेला है मां ने मेरे पिता को। शायद इसके जीवन में सुख बड़ा ही नहीं है। पहले पिता का कड़क मिज़ाज और मेरा ज़िद्दी स्वभाव और अब मेरी पत्नी के ताने-उलाहने, बच्चों का उपहास, कितना कुछ सहती रही है मां। इस झंझावात से जूझते हुए मां अब थक चुकी है। वह बिस्तर पर पड़े-पड़े हांफ़ रही है। वह अक्सर मुझसे कहती — “मुझे मेरे गांव ले चलो.”

“यही तुम्हारा गांव है,” मैं कहता।

मां झुंझलाकर कहती — “यह मेरा घर नहीं है। यहां कहां है बंसवारी, आम का बगीचा, ताड़-खजूर और बबूल के पेड़? मुझे खपरैल की छप्परवाले उस मिट्टी के घर में ले चलो। इस पक्के मकान में मेरा दम घुटता है.”

पत्नी चिढ़कर कहती — “मां जान-बूझकर ऐसा कहती हैं। यहां की सुख-सुविधा को छोड़कर वह कहां और क्यों जाना चाहती हैं? और गांव में भी अब वह मिट्टी वाला घर कहां रह गया है?”

मैं पत्नी को कोई जवाब नहीं दे पाता। मैं बस इतना जानता हूँ कि मां झूठ नहीं बोलती हैं। मैं नहीं जानता कि

मां की जिंदगी में क्या और कौन सी कमी रह गयी है, जिसे हम लोग पैसे से पूरा नहीं कर सकते? यहां के वैभव को छोड़कर वह किन लोगों के बीच और क्यों जाना चाहती है? इस वैभव की दुनिया में अपनी मुट्टी में ढेर सारे रुपये लेकर भी मैं कितना बेबस और लाचार हूं. पैसों से मैं मां की खुशी नहीं खरीद सकता.

मैं चाहकर भी पूरा-का-पूरा किसी का हो नहीं सकता. हर कोई मुझे संपूर्णता में पाना चाहता है. मां, पत्नी, बच्चे और बाहरी दुनिया में विभक्त मेरा जीवन खुद अपने लिए कितना बचा रह गया है? सफलता के इस ढूँह पर बैठा हुआ मैं देख रहा हूं, मेरे चारों ओर अवसाद की राख बिछी है. गहन अवसाद के घटाटोप में घिरा मैं प्रार्थना के स्वर

में श्रीकांत वर्मा की पंक्तियां बुदबुदाता हूं —

“माता, मैंने तुमको सुख न दिया,  
पिता, मैंने तुम्हें  
संतोषों का मुख न दिया.  
मैं कुचली कोंपल की सिसकी-सा  
सिसक रहा.  
मैं खुद अपने अंदर  
कांटे-सा कसक रहा.”

❧ मारवाड़ी सनातन विद्यालय,  
पोस्ट-रानीगंज,  
जिला-वर्द्धमान (प. बं.)-७१३३४७  
मो.: ९४३४३९०४९९

## कविता

### शब्द

❧ डॉ. प्रभा मुजुमदार

मेरे लिए  
शब्द एक औजार हैं  
भीतर की टूट फूट/उधेड़बुन  
अव्यवस्था और अस्वस्थता की  
शल्यक्रिया के लिए.  
शब्द एक आईना हैं  
यदा कदा अपने स्वत्व से  
साक्षात्कार के लिए.  
मेरे लिए  
शब्द संगीत है  
जिंदगी के सारे राग  
और सुरों को समेटे हुए.  
दोपहर की धूप में  
भोर की चहचहाट है  
रात की कालिख में  
नक्षत्रों की टिमटिमाहट.  
मेरे लिए शब्द एक ढाल है

चाही-अनचाही लड़ाईयों में  
अपनी सुरक्षा के लिए.  
मेरे लिए शब्द  
आंसू हैं  
रंजना और विषाद की  
अभिव्यक्ति के लिए.  
हताशा की मंवरों से  
लड़ने का संबल है.  
मेरे लिए  
शब्द एक रस्सी की तरह  
मन के अंधे गहरे कुएं में  
दफन पड़ी चादों को  
स्वंगालने के लिए.  
शब्द एक प्रतिध्वनि है  
वीरान/अकेली/निर्वासित नगरी में  
हमसफर की तरह  
साथ चलने के लिए.

❧ एच-७-१, ओ एन जी सी, बांद्रा-कुर्ला संकुल,  
बांद्रा (पूर्व), मुंबई-४०००५१. मो. ९९६९२२१५७०



आमने-सामने

## आईने में उभरते हुए प्रतिबिंब

सुरभि बेहेरा

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है, लेखक और पाठक के बीच की दीवार खत्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने-सामने'. अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिवार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नी सिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्रिहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेन्द्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, अलका अग्रवाल सिगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रजाक, मदन मोहन 'उपेंद्र', भोला पंडित 'प्रणयी', महावीर रवांला, गोवर्धन यादव, डॉ. विद्याभूषण, नूर मुहम्मद 'नूर', डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम', सुरेंद्र रघुवंशी, राजेंद्र वर्मा, डॉ. सेराज खान 'बातिश', डॉ. शिव ओम 'अंबर', कृष्ण सुकुमार, सुभाष नीरव, हस्तीमल 'हस्ती', कपिल कुमार, नरेंद्र कौर छाबड़ा, आचार्य ओम प्रकाश मिश्र 'कंचन', कुंवर प्रेमिल, डॉ. दिनेश पाठक 'शशि', डॉ. स्वाति तिवारी, डॉ. किशोर काबरा, मुकेश शर्मा, डॉ. निरुपमा राय, सैली बलजीत, पलाश विश्वास, डॉ. रमाकांत शर्मा, हितेश व्यास, डॉ. वासुदेव, दिलीप भाटिया, माला वर्मा, डॉ. सुरेंद्र गुप्त, सविता बजाज और डॉ. विवेक द्विवेदी से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है सुरभि बेहेरा की आत्मरचना.

कथाबिंब पत्रिका के 'आमने-सामने' स्तंभ के लिए जब अरविंद जी का फ़ोन आया तो मैं इस पशोपेश में पड़ गयी कि आत्मकथ्य की शुरुआत कहां से प्रारंभ करूं और कहां खत्म करूं. कभी सोचा नहीं था कि उम्र के इस दौर में पहुंचकर अतीत की स्मृतियों के अविस्मरणीय पलों को दोबारा सहेजने में कामयाब भी हो पाऊंगी. वैसे कहने के लिए तो अपनी जीवन यात्रा बिल्कुल आम ज़िंदगी जैसी ही है, पर जब अतीत की यादें ताज़ा करती हूं तो कुछ खास लगने लगती है.

वैसे तो मेरा बचपन ओड़िशा के राउरकेला शहर में बीता था. चूंकि पिताजी राउरकेला स्टील प्लांट में कार्यरत थे इसलिए हमारी पढ़ाई-लिखाई भी 'सेल' के स्कूलों में ही पूरी हुई. पांच भाई-बहनों में मेरा नंबर चौथे स्थान पर है. मेरी छोटी बहन और मुझमें साल भर का ही अंतर है. जब उसका जन्म हुआ था तो मैं बहुत छोटी थी. उस समय न मैं ठीक तरह से बोल पाती थी और न ही चल पाती थी. मां चाहकर भी मेरा ध्यान नहीं रख पातीं. मेरी बेबस आंखें मां की गोदी के लिए तरसती रहती पर, उस वक़्त उनके लिए मुझसे

ज़्यादा मेरी छोटी बहन की देखभाल करना ज़रूरी था. इसलिए मेरा ज़्यादा समय पिताजी के साथ ही गुज़रता था. कहते हैं न जब किसी का ख़ास ख्याल रखा जाये तो असर भी कुछ ज़्यादा हो जाता है. मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ था. शायद, पिताजी की देखरेख में मैं कुछ ज़्यादा ही खाने-पीने लगी थी. डेढ़ साल की उम्र में इतनी मोटी हो गयी थी कि सभी मुझे टुनटुन के नाम से पुकारते.

उस वक़्त स्कूलों में दाख़िला लेने के लिए आज की तरह इम्तिहान वगैरह नहीं हुआ करते थे. यदि कोई भी बच्चा अपने हाथ को सिर के ऊपर ले जाकर कान पकड़ लेता तो उसका दाख़िला हो जाता. ऐसा माना जाता कि अब इस बच्चे की उम्र पढ़ने लायक हो गयी है. मुझे याद है जब मुझे दाख़िला दिलवाने के लिए स्कूल ले जाया गया तो मैंने अपने हाथ को सिर के ऊपर से नहीं बल्कि सिर के पीछे से ले जाकर कान पकड़ लिया था. शायद हेडमास्टर साहब को मेरी समझदारी पर हंसी आयी और उन्होंने तुरंत मेरा दाख़िला करवा दिया.

प्रायः सभी घरों में सबसे बड़े या फिर सबसे छोटे



बच्चे मां-बाप के सबसे प्रिय होते हैं। पर न जाने क्यों मुझे ऐसा लगता है कि मैं प्रारंभ से ही अपने मां-बाप के सबसे नज़दीक और सबसे लाड़ली बेटा बनकर रही हूँ। इसलिए मेरे पिता का प्यार और आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा।

हम पांच भाई-बहनों में पिताजी ने कभी भी कोई भेद-भाव नहीं किया। बचपन में हर मां-बाप अपने बच्चों की छोटी-बड़ी गलतियों पर उसे डांटते-पीटते हैं, परंतु हमारे घर में बड़े भैया को कई बार उनकी गलतियों पर मार पड़ी पर जहां तक मुझे स्मरण है हम चारों बहनों को पिताजी ने कभी हल्का-सा चांटा भी नहीं मारा, बल्कि हमें तो हमेशा प्यार से समझा कर ही मना लेते। पांच भाई-बहनों में भैया सबसे बड़े थे। घर में हमेशा उनकी ही धौंस चलती थी। भैया अपने हाथ से एक गिलास पानी भी लेकर नहीं पीते थे। उन्हें कोई भी चीज़ की ज़रूरत होती तो हम बहनों को ऑर्डर कर देते। खासकर, मैं भैया से बहुत डरती थी।



भैया की गणित बहुत अच्छी थी, इसलिए गणित पढ़ाने में वे ही हमारी मदद किया करते थे। भैया की आदत थी कि किसी भी सवाल को एक बार समझा देने के बाद दोबारा उसी नंबर का हल निकालने के लिए कहते, और मेरी कमज़ोरी थी कि मैं उनकी मार के डर से समझकर भी ग़लती कर देती। उसके बाद मुझे इतनी मार मिलती कि दोनों गाल सूज जाते। मां जब मेरे सूजे हुए गालों को देखतीं तो भैया को बहुत डांट पड़ती और गुस्से से उनसे कहतीं — “तुझे कोई ज़रूरत नहीं है मेरी बेटा को पढ़ाने की, इतनी मार खाने से अच्छा तो इसे मूर्ख ही बने रहने दे।” भले ही मां अपनी ममता की छाया में मुझे उनसे छुपा लेती पर असल में भैया की डांट-फटकार और मार के कारण ही मैं गणित की परीक्षा में हमेशा अच्छे नंबर से पास हो जाती।

बचपन से मुझे फ़िल्मी गाने सुनने का शौक था। उस समय रेडियो पर ही गाने सुने जाते थे। विविध-भारती में गाने सुनने के लिए शाम चार बजे से ही रेडियो के सामने बैठ जाती थी। फ़िल्म देखने की इतनी शौकीन कि मुझे याद नहीं कि मैंने अमिताभ बच्चन की कोई भी फ़िल्म छोड़ी हो। कई बार तो दिन का टिकट नहीं मिलने पर नाईट शो भी देखने चली जाती। हमारे इस शौक में पिताजी भी बराबर का साथ देते थे।

मुझे याद है जब मैं पांच-छह क्लास में पढ़ती थी तो

उस समय किसी भी वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेने में मुझे बहुत डर लगता। घर से अच्छी तरह याद करके स्कूल पहुंच जाती लेकिन मंच पर जाते ही अपने सामने इतने सारे श्रोताओं को बैठे देख मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती। मुश्किल से पांच-छह पंक्तियां ही बोल पाती उसके बाद आगे की लाईनें भूल जाती। धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जाने पर मेरा आत्मविश्वास बढ़ने लगा और मुझे अपने स्कूल की प्रतियोगिताओं में पुरस्कार भी मिलने शुरू हो गये।

एक बार वाद-विवाद प्रतियोगिता में ‘अग्निशमन’ पर बोलने के लिए हमारे स्कूल से मेरा नाम चयन किया गया था। मुझे राज्य स्तरीय स्तर पर दूसरे शहर के स्कूल में जाकर बोलना था। इतनी बड़ी प्रतियोगिता का नाम सुनकर ही मेरे हाथ-पांव फूलने लगे। पिताजी ने मुझे समझाते हुए कहा था — “बेटा, कोई भी ऊंचाइयां सस्ते में नहीं मिलतीं, उसके लिए हमें बहुत मेहनत करनी पड़ती है।

अपने सपनों के लिए हमें लड़ना पड़ता है। तू इसी तरह मुस्कुराते हुए अपनी मंज़िल पर आगे बढ़ती रहेगी तो धीरे-धीरे तेरी मुस्कुराहटों में भी निखार आता जायेगा।”

उस वाक्य ने मेरे अंतर्मन को इतना सराहा कि उस दिन की प्रतियोगिता में मैं राज्य स्तर पर द्वितीय स्थान के लिए चुनी गयी। वही मेरे जीवन का पहला पुरस्कार था। समय के साथ-साथ मेरी कल्पनाओं में भी निखार आता गया और मुझे पता ही नहीं चला कब मैं स्कूल की सामान्य प्रतियोगिताओं से पाठकों के दिलों में बसती चली गयी।

कॉलेज की पढ़ाई पूरी होने के बाद मैंने संबलपुर युनिवर्सिटी से एम. ए. की डिग्री हासिल की। इस बीच मुझसे दो बड़ी बहनों की शादी हो चुकी थी। कायदे के अनुसार अगला नंबर मेरा ही था। लेकिन प्रारंभ से ही हिंदी शिक्षण के प्रति मेरा रुझान अधिक थी, इसलिए लगभग दो-ढाई साल तक मैं राउरकेला शहर के हाई स्कूल में हिंदी शिक्षिका के रूप में पढ़ाती रही। शादी के बाद जहां पतिदेव की पोस्टिंग हुई वहीं के स्कूल में करीब चार-पांच साल तक हिंदी शिक्षिका के रूप में कार्यरत रही। धीरे-धीरे अपने बच्चों की देखभाल के लिए मुझे स्कूल छोड़ना पड़ा। उसके बाद मैंने स्वतंत्र रूप से साहित्य से जुड़ने का निर्णय ले लिया। तब से लेकर आज तक लेखन एक आदत-सी हो गयी है।

कहा जाता है कि अगर मां-बाप की दुआएं साथ हों तो हाथों की लकीरें भी बदल जाती हैं. शायद मेरी ज़िंदगी में भी उनका आशीर्वाद हमेशा साथे की तरह ही साथ रहा है. प्रारंभिक जीवन से मुझे कथा-साहित्य का अध्ययन रुचिकर लगता था. प्रवेशिका परीक्षा पास करने के पूर्व ही मैंने हिंदी और ओड़िया के अधिकांश कथा लेखकों की कहानियां पढ़ ली थीं. उस समय मुझे यह नहीं मालूम था कि एक दिन मेरी यह रुचि मुझे भी कहानी लिखने के लिए आग्रह करेगी और मैं कथा लेखिका बन जाऊंगी. बचपन से ही हमारे घर में रुचि के अनुसार पत्रिकाएं आती रहतीं. बड़े होने के बाद धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, सरिता, नवनीत कादंबिनी आदि कई साहित्यिक पत्रिकाओं को पढ़ने का शौक भी बढ़ता गया. इसलिए कॉलेज के दिनों से ही कुछ न कुछ लिखने की कोशिश करती रहती. मेरे लेखन की आरंभिक शुरुआत कहानी से ही शुरू हुई थी.

मेरे पिताजी स्वयं एक बहुत प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं. प्रारंभ से ही उनकी कहानियों, कविताओं को सुनकर ही हम बड़े हुए. अतः उनकी लेखनी से प्रभावित होकर ही मैं इस ओर अग्रसर हुई हूं. उन्होंने जब साहित्य के प्रति मेरा लगाव देखा तो मेरे परिश्रम को खूब सराहा. उनकी इस सराहना ने मेरे मन में लेखन के प्रति प्रतिबद्धता की वह लौ जगा दी कि लेखन के प्रति मेरी रुचि बढ़ती ही गयी.

वैसे तो कहानी लेखन के क्षेत्र में मेरा कदम बहुत पुराना नहीं है. अतः मेरा यह मानना है कि इस क्षेत्र में मैं बिल्कुल नयी और बहुत-सी बातों से अनजान भी हूं, इसलिए अब तक बहुत कम कहानियां लिख पायी हूं. फिर भी कहानी लिखना मेरे लिए न ही वक़्त गुज़ारना है और न ही अपनी अलग अस्मिता स्थापित करने का साधन, बल्कि अब लेखन मेरे लिए अन्य ज़रूरी कामों की तरह ही संघर्षशील कार्य बन गया है.

मेरी खोजी दृष्टि जहां कहीं भी जाती, या मेरे आस-पास रहने वालों की ज़िंदगी में जो कुछ भी घटनाएं घटित होतीं, उन्हें देखने, सुनने और समझने के बाद मेरे अंदर जो भी अनुभव होते उन अनुभवों को अपनी कलम द्वारा वास्तविक दुनिया में लाने का प्रयास ही मेरी कहानियों की कोशिश रही है.

जब मेरी पहली कहानी 'विवश मानस' को संपादक गिरिजाशंकर त्रिवेदी जी ने 'नवनीत' पत्रिका में प्रकाशित



किया, तो मुझे अपने आप पर गर्व महसूस होने लगा कि इतनी प्रतिष्ठित पत्रिका में मेरी पहली कहानी प्रकाशित हुई है. धीरे-धीरे कहानी लिखने की कला को बढ़ावा मिला और मैंने कुछ ही महीनों में दर्जनों कहानियां लिख डालीं. जब ये कहानियां पत्रिकाओं में प्रकाशित हो गयीं और पाठकों के ढेर सारे पत्र आने लगे तो मुझे लगा कि मेरे श्रम को सार्थकता मिल गयी है. अतः अब कहानी संकलन भी आ जाना चाहिए.

वैसे मेरे पहली कहानी संग्रह 'खिलती पंखुड़ियां' की सभी कहानियां प्रायः मानवीय सरोकार से ही जुड़ी हुई हैं. इनमें से कई कहानियां परिवार के बीच के बनते-बिगड़ते रिश्तों की ही दास्तान हैं. इसलिए इन कहानियों को पढ़ने के बाद पाठक को किसी न किसी रूप में किसी ख़ास रिश्तों से जुड़ने का प्रयास ही दिखलायी पड़ेगा. मेरी ज़्यादातर कहानियां नारी चरित्र को केंद्रबिंदु करके ही केंद्रित की गयी हैं. चूंकि मैं खुद एक महिला हूं इसलिए नारी के अंतर्मन के कुछ नाकाम रिश्तों को टटोलने की कोशिश भी की है. उन्हें पढ़ने के बाद, मेरे पाठकों ने भी उस सच्चाई के आभास को महसूस किया है. कई पाठकों के प्रशंसनीय पत्रों को पढ़कर मुझे अपना प्रयास सफल होता हुआ महसूस हुआ.

आज भी पाठकों के आये खतों को मैं बड़ी बेसब्री

से पढ़ा करती हूँ. मेरी रचना पर यदि कोई खत आये तो सारे काम छोड़कर उसे पढ़ने बैठ जाती हूँ. उस पत्र को कई-कई बार पढ़कर खुश होती हूँ. पाठकों एवं शुभचिंतकों का स्नेहिल प्रेम ही है जो मुझे लिखने के लिए प्रेरित करता रहता है. मैं अपने आप को भाग्यशाली मानती हूँ कि मेरी पहली कृति 'खिलती पंखुड़ियां' को हिंदीतर भाषी हिंदी लेखक पुरस्कार योजना के अंतर्गत २००९ में राष्ट्रीय सम्मान से नवाजा गया. पुरस्कार स्वरूप एक लाख रुपये की धनराशि भी प्राप्त हुई. मेरे विचार में एक साहित्यकार के लिए इससे बड़ा सुकून कुछ और हो ही नहीं सकता.

जन्म से ही ओड़िशा प्रांत में रहने के कारण ओड़िया भाषा के प्रति मेरा एक खास लगाव रहा है. उस वक़्त ओड़िशा के स्कूलों में ज्यादातर हिंदी की पुस्तकें उपलब्ध नहीं हो पाती थीं और हमें ओड़िया से हिंदी में अनुवाद करके ही अपनी पढ़ाई करनी होती थी. यही कारण है कि प्रारंभ से ही ओड़िया पढ़ने और समझने में मुझे कभी भी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा.

देखते ही देखते कुछ ही दिनों में मैंने ओड़िया के प्रायः सभी श्रेष्ठ रचनाकारों की कहानियां पढ़ डालीं. इन कहानियों को पढ़ने के पश्चात मुझे जीवन के प्रति एक अलग नज़रिये का अहसास हुआ, और थोड़े ही दिनों में मैंने अपनी आंतरिक प्रेरणा से कुछ कहानियों का हिंदी में अनुवाद भी कर डाला. वैसे तो ये सारी कहानियां अपने क्षेत्र में विख्यात हैं ही परंतु इसे सर्व भारतीय स्तर पर ख्याति प्राप्त हो इसी आशा के साथ मैंने इन कहानियों को हिंदी की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में छपने के लिए भेज दिया. क्रमागत ये अनूदित कहानियां श्रेष्ठ पत्रिकाओं में प्रकाशित हो गयीं तथा संपादकों और पाठकों के ढेर सारे पत्र भी आने लगे तो मुझे लगने लगा कि मेरे श्रम को सार्थकता मिल गयी है. अतः अब अनूदित कहानियों का संग्रह का संकलन भी आ जाना चाहिए. आज इसी प्रेरणा के कारण हिंदी साहित्य क्षेत्र में मैं एक सफल कहानीकार और अनुवादिका के रूप में पहचानी जाती हूँ.

सौभाग्य से मेरा विवाह भी इसी प्रदेश में हुआ है — वह भी एक कला प्रेमी से. संगीत कला एवं साहित्य में उनकी रुचि ने मेरे अंदर की कला चेतना को और भी अधिक प्रेरित किया. अपनी नौकरी की व्यस्तताओं के बावजूद मेरे पति ने इस कार्य को पूरा करने में मेरा हमेशा साथ दिया है. अनुवाद करते वक़्त कठिन शब्दों के अर्थ

समझने में तथा आंचलिकता से जुड़ने में यदि उनका सहयोग नहीं मिला होता तो मैं इन कहानियों को वह जीवंतता नहीं सौंप पाती जिनकी इन्हें ज़रूरत थी.

यह मेरी खुशक्रिस्मती है कि ओड़िया और हिंदी भाषा के मध्य सही तालमेल रखने हेतु 'केंद्रीय हिंदी निदेशालय' द्वारा हिंदीतर भाषी हिंदी लेखक पुरस्कार योजना के अंतर्गत (वर्ष २००७ एवं २००८) में चयन समिति के विशेषज्ञ के रूप में मेरा नाम चयन किया गया था. दो दिवसीय कार्यक्रम में बड़े-बड़े साहित्यकारों से मुलाकात हुई. जिसके फलस्वरूप मैं हिंदी प्रदेश सहित ओड़िशा के विभिन्न साहित्यिक कार्यक्रमों के आयोजनों में समय-समय पर अपना सक्रिय योगदान भी देती रही हूँ.

चूंकि मैं हिंदी और ओड़िया दोनों भाषाओं से समान रूप से जुड़ी रही, इसलिए मौलिक कथा लेखन के साथ ओड़िया की चुनी हुई कहानियों का अनुवाद भी समय-समय पर निरंतर करती रही. जब ओड़िया से अनूदित मेरी कहानियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ और पाठकों तथा कथा समीक्षकों की काफ़ी सराहना मिली तो कथा अनुवाद में मेरी रुचि और अधिक बढ़ी. ओड़िया कथा साहित्य के कई चर्चित कथाकारों से संपर्क में आने के बाद मैंने इस दिशा में कुछ अधिक समय देने का मन बनाया. साठोत्तरी ओड़िया कथा साहित्य के कई कथाकारों की चर्चित कहानियां पढ़ीं. फलतः अनुवाद का क्रम भी गति पकड़ता गया. मेरी पहला अनूदित संकलन 'ओड़िया की चर्चित कहानियां' में ओड़िशा के विशिष्ट कथाकारों की प्रमुख कहानियों का चयन अत्यंत प्रशंसनीय साबित हुआ. प्रत्येक कहानी राष्ट्रीय स्तर पर सराही गयी. राजस्थान से छपने वाली 'मधुमती' पत्रिका के जरिये मेरे पास पाठकों के अनगिनत पत्र आने लगे. उन ढेरों पत्रों ने मेरे अंतर्मन में ऐसी छाप बनायी कि अब अनुवाद करना मेरे सृजन की सकारात्मक सोच बन गयी है.

सांप्रतिक ओड़िया कथा साहित्य कथ्य, शिल्प और शैली की दृष्टि से समस्त भारतीय भाषाओं के कथा साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है. सामाजिक संचेतना, शैल्पिक सौष्ठव और शैलीगत सौंदर्य के कारण ओड़िया कहानियां अपनी अलग अस्मिता की हकदार प्रतीत होती हैं. ओड़िया साहित्य की इसी विशिष्टता के कारण कुछ ही महीनों बाद एक दिन बातचीत के दौरान यह तय हुआ कि ओड़िशा के लोकप्रिय कथाकार दीप्तिरंजन जी की कुछ चुनी हुई कहानियों का एक संकलन हिंदी में निकाला

लघुकथा

## बारिश का बोझ

✍ सुनील गुज्जाणी

मेरा कंकाल-सा बना शरीर और कितना बोझ उठा सकता है, उफ़! तगारी बेहद भारी हो गयी है आज, उठ ही नहीं रही है, क्या सारा बोझ ईश्वर ने मेरे लिए ही रख छोड़ा है? एक और जवान हो रहे अर्धविक्षिप्त बेटे का बोझ तो दूसरी और उसकी मां, जो अपने बेटे को यूँ देख-देख दिन भर रोती रहती है इस गम में और इसी गम में रोग भी लगा बैठी। अपना ध्यान रख सकूँ या ना रख सकूँ मगर उन दोनों का ध्यान रखना बेहद ज़रूरी है मेरे लिए। मन नहीं लगता मज़दूरी पे मगर क्या करूँ, ना करूँ तो हमारा पेट कौन भरेगा पेट... पेट से पहले तो दवा के पैसे बहुत ज़रूरी है!" वो मंथन करता हुआ अपनी तगारी उठाने लगता है मगर असफल... "भला हो सेठ का जिसने मुझे रोज़गार दिया वरना इस उम्र और हालात में मज़दूरी मिलना तो दूर की बात थी!" वो पुनः अपनी तगारी उठाने का असफल प्रयास करता है।

"काका! तगारी थोड़ी खाली कर लो, हमेशा जितनी-जितनी मत भरो! रात को हुई बारिश में रेत बहुत भीगी हुई है इसलिए भार ज्यादा हो गया है!" साथी मज़दूर बोला।

"हां! ये तो सोचा ही नहीं, तगारी थोड़ी खाली कर लूं ठीक रहेगा, क्या बोझ कम लिखे हैं मेरे भाग्य में जो बारिश का बोझ और उठाना बाक़ी था!" बूढ़ा भीगी रेत को मुट्टी में भरता आसमा तकता बोला।

✍ द्वारा श्री मोतीलाल गुज्जाणी, सुधारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर-३३४००५.  
मो. ९९५०२१५५७.

जाये।

दीप्तिरंजन पट्टनायक की कई कहानियों को पढ़ने के पश्चात मैंने उनमें से बारह कहानियों का चयन किया जो मेरी तीसरे अनूदित कथा संकलन 'बबूल की छांव' के रूप में संकलित हैं। अभी हाल ही में मेरी तीन पुस्तके छपकर आयी हैं, जिसमें दो अनूदित हैं और एक बाल कहानियों पर आधारित बाल पुस्तक है। मेरा दूसरा मौलिक कथा संकलन का कार्य जारी है। कुल पंद्रह कहानियों का यह संकलन जल्द ही प्रकाशित होने की संभावना है। ओड़िया लोक परंपरा पर आधारित कई आलेख प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ महीनों बाद इस लोक परंपरा पर एक संकलन निकालने का विचार भी है। इसके अलावा आज भी 'ओड़िया साहित्य अकादमी' के जरिए ओड़िया उपन्यास, कहानी संकलन के अनुवाद का कार्य जारी है। भविष्य में भी आप सभी मित्रगणों का साथ यूँही बना रहा तो लेखन का कार्य बरकरार रहेगा।

किसी भी साहित्यकार के लिए उसकी सभी रचनाएं अपने बच्चों की तरह होती हैं। मेरी सभी रचनाएं भी मेरे शरीर के अंग ही हैं। उनमें से कुछ रचनाएं ज्यादा दिल

के करीब महसूस होती है और जिन्हें पढ़ने पर एक अनूठे किस्म की खुशी मिलती है। ऐसी कहानियों में 'भीगी पलके', 'बाबूजी का चश्मा', 'तू कितनी अच्छी है', 'भीगी हथेलियों का स्पर्श' दिल को छूती हुई कहानियां हैं।

'कथाबिंब' पत्रिका की मैं हृदय से आभारी हूँ कि मेरी कहानियों को इसमें प्रकाशित होने का मौका दिया गया। मेरी कहानी 'भीगी हथेलियों का स्पर्श' के लिए मुझे कई प्रशंसनीय पत्र भी प्राप्त हुए। एक कथाकार के लिए इससे बड़ी उपलब्धि कुछ हो ही नहीं सकता। २०१३ में इसी कहानी के लिए 'कमलेश्वर स्मृति कथा पुरस्कार' पाकर मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई।

✍ क्वार्टर न०- ८/३, ब्लॉक -D-६  
न्यू गर्वमेंट कॉलोनी, एम. आर. सी  
उपडाकघर, भुवनेश्वर-७५१०१७ (ओड़िशा)  
मो. - ९४३८६२१५१०.

'सुश्री सुरभि बेहेरा की कहानी, 'अंतिम इच्छा'  
पाठक अगले अंक में पढ़ सकेंगे - सं.



## 'उत्पीड़न के गर्भ से जन्मे हैं विमर्श !'

✍ डॉ. श्याम निर्मोही

( डॉ. श्याम निर्मोही से डॉ. राजेश हजेला की 'कथाबिंब' के लिए विशेष बातचीत )

❖ **हिंदी साहित्य और लेखन में आपकी सक्रियता का आरंभ कब और कैसे हुआ ?**

सन १९६६ में मैं कक्षा ग्यारह का छात्र था, तो काशी नरेश को प्रौढ़ावस्था में पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई थी. इस अवसर पर उनके विद्यालय प्रभु नारायण इंटर कॉलेज, रामनगर (वाराणसी) में समारोह का आयोजन होना था. उसके लिए सोहर गीत के रूप में मेरी पहली कविता प्रस्फुटित हुई — 'लोल लहरों के लास्य तारक पलनों के हास्य, बंद मुरली बजी रामनगरी में आकर.' इसके पश्चात स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस एवं अन्य सम-सामयिक अवसरों के लिए कविताओं का लेखन होता रहा. प्रारंभ में ग्राम्य गायकों के लिए भोजपुरी में 'फाग' और 'कजरी' की रचना की. बलिया जिले में छह वर्ष निवास के क्रम में 'जोगीड़ा' (फाग विधा) में भी कुछ गीत लिखे. मेरी अधिकांश रचनाएं साइकिल चलाते हुए या बस तथा ट्रेन में यात्रा करते हुए कही व लिखी गयीं. सन् १९८० में फ़र्रुखाबाद आने पर मुझे ऐसा लगा कि फ़र्रुखाबाद की धरती कवियों के लिए उर्वरा भूमि है. यहां के परिवेश ने मुझे कवि बना दिया.

❖ **आप साहित्य को किस रूप में लेते हैं? आप प्राचीन काल से लेकर आज के साहित्य को किन विधाओं में पाते हैं?**

सामान्यतः हित से जुड़े लेखन (गद्य-पद्य) को साहित्य कहा जाता है. मेरी दृष्टि में 'यह हित' कुछ लोगों के हित से न जुड़ा होकर बहुसंख्यक मानवों एवं प्राणियों के हित से जुड़ा हो तभी वह साहित्य कहलाने का अधिकारी है. विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद तीन विधाओं में लिखे गये हैं — (१) ऋक (पद्य), (२) साम (गीत), (३) यजुस

(गद्य). जिस वेद में जिस विधा की संख्या अधिक है उसके आधार पर उन्हें ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद नाम दिया गया. अथर्ववेद भी इन्हीं तीन विधाओं में लिखा गया है. आपको जानकर यह आश्चर्य होगा कि इन तीन विधाओं के अलावा चौथी साहित्यिक विधा का आविष्कार आज के संसार ने भी नहीं किया है. आज का संपूर्ण संसार भी इन्हीं तीन विधाओं में ही साहित्य का सृजन कर रहा है.

❖ **आप गद्य, पद्य और गीत साहित्य को किस रूप में लेते हैं? क्या भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, भूगोल, समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञानों को साहित्य मानते हैं?**

गीत और पद्य मुख्य रूप से मन के रंजन से जुड़े होते हैं. ये समाज को दिशा भी देते हैं परंतु गद्य साहित्य सर्वाधिक प्रभावकारी होता है. पद्य में घुमा-फिराकर बात कही जाती है, जिससे अर्थ-विभ्रम उत्पन्न होता है जबकि गद्य सीधी-सपाट भाषा में लिखा जाता है. इसमें पद्य की अपेक्षा बुद्धि-विवेक का अधिक उपयोग किया जाता है.

समस्त प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान भी उत्कृष्ट प्रकार के साहित्य हैं. आज के आधुनिक संसार का निर्माण भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, इंजीनियरिंग, कंप्यूटर, अंतरिक्ष विज्ञान, राजनीति विज्ञान, समाज शास्त्र जैसे साहित्य के बल पर ही हुआ है. इस साहित्य ने पद्य साहित्य की अपेक्षा संसार का सर्वाधिक हित किया है. इसलिए गद्य साहित्य का संसार में पहला स्थान है. पद्य साहित्य दूसरे स्थान पर चला गया है.

❖ **आप लगभग चार दशकों से फ़र्रुखाबाद में निवास कर रहे हैं. यहां के साहित्यकार और साहित्यिक**



१० जनवरी १९४७, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश).  
शिक्षा : एम. ए., पीएच. डी.

: प्रकाशन :

‘मुक्ति यज्ञ’, ‘आदिमाता मनु’, ‘ऋग्वैदिक असुर और आर्य’, ‘उत्सवों का समाजशास्त्र’, ‘लक्ष्मी गणेश का आर्थिक समाजशास्त्र’, ‘हिंदू संस्कृति के बारह सच’, ‘अथातो ब्रह्म जिज्ञासा’ (आचरण मूलक शब्दार्थ कोश), ‘देखो भगवान’, ‘धर्म, एक धर्म और अध्यात्म’, ‘हिंदू धर्म और ....?’ ‘बुद्ध एक समाज वैज्ञानिक चिंतन : आधुनिक परिप्रेक्ष्य’ (सभी शोध ग्रंथ), ‘एकलव्य का अंगूठा (काव्य संग्रह), ‘आरक्षण की धुरी’ (सहज काव्य), ‘कथानिका’ (कथा संग्रह), ‘समरिया के आंख’ (भोजपुरी गीत संग्रह).

: संप्रति :

सेवानिवृत्त एसोशिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, भारतीय महाविद्यालय, फ़र्रुखाबाद.

: संपर्क :

६ बी/१३८, आवास विकास कॉलोनी, लोहिया पुरम,  
फ़र्रुखाबाद-२०९६२५ (उ. प्र.).  
मो. : ९८८९४२३८४३

### गतिविधियों के संबंध में प्रकाश डालिए?

फ़र्रुखाबाद में गली-गली में कवि मिल जायेंगे. इसलिए यहां साहित्यिक संस्थाओं द्वारा कार्यक्रमों का आयोजन होता रहता है. एक बात ध्यान देने वाली है कि यहां के साहित्यिक आयोजनों ने ही साहित्यिक समाचारों को समाचार पत्रों में प्रमुख स्थान दिलाने का कार्य किया. जिसकी शुरुआत साहित्यिक संस्था ‘शिखर’ की ओर से आयोजित काव्य-कृति ‘गुणकेशी’ की समीक्षा गोष्ठी से हुई थी. नवंबर २०१४ में ‘शिखर’ एवं ‘जनवादी लेखक संघ’ के तत्वावधान में फ़र्रुखाबाद में प्रथम गद्य लेखक सम्मेलन आयोजित किया गया. इस सम्मेलन में पता चला कि फ़र्रुखाबाद में गद्य लेखन का प्रकाशन पद्य लेखन की

अपेक्षा सर्वाधिक हुआ है. समाचार-पत्रों ने भी यह प्रकाशित किया कि यहां के गद्य लेखन का देश में पहला स्थान है. मैंने भी वह अनुभव किया है कि जब मैं मिर्जापुर जाता हूं तो गीत गुनगुनाने लगता हूं परंतु फ़र्रुखाबाद में आते ही गद्य चिंतन प्रारंभ हो जाता है.

❖ कहते हैं कि ‘साहित्य समाज का दर्पण है’ क्या यह सत्य है? यदि हां तो कितने प्रतिशत?

मेरी दृष्टि में साहित्य समाज का दर्पण न होकर साहित्यकार के व्यक्तित्व का दर्पण होता है. जो साहित्यकार समाज से जो कुछ ले पाता है, वही उसके साहित्य में प्रकट होता है क्योंकि किसी भी साहित्यकार के साहित्य में १० से २० प्रतिशत से अधिक समाज प्रकट नहीं होता. संपूर्ण वैदिकोत्तर संस्कृत साहित्य इस बात का प्रमाण है कि उसमें १० प्रतिशत लोगों के हित को सर्वोच्च स्थान दिया गया है. इस प्रकार ९० प्रतिशत समाज का अहित करनेवाला उक्त लेखन साहित्य की श्रेणी में रखने योग्य नहीं है.

❖ आप कवि के साथ-साथ लेखक कैसे हो गये?

डिग्री शिक्षक बनने के १५ वर्ष बाद जब मैं पी-एच. डी. करने के लिए शोध छात्र बना तो विषय के अनुरूप वेदों से लेकर संपूर्ण वैदिकोत्तर साहित्य तथा कुरान शरीफ, बाइबिल, अवेस्ता आदि का अध्ययन करने पर मुझे पता चला कि वेद और अवेस्ता के बाद का संपूर्ण साहित्य मनुष्य को एक बुद्धिहीन प्राणी के रूप में प्रस्तुत करता है, जहां वह खुदा, गॉड, भगवान के इशारे पर नाचता रहता है. मेरे तार्किक मन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया. मुझे लगा कि जब मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी है तो उसे अपनी बुद्धि का उपयोग करना चाहिए. फलतः मेरी बुद्धि और विवेक शोध की गहराई में उतर कर सत्य का मोती खोजने लगा. परिणाम यह हुआ कि मैं एक समाजशास्त्री चिंतक के रूप में गद्य लेखक बन गया. मेरी पुस्तकों में वही सत्य प्रकट हुआ है.

❖ आज साहित्य के क्षेत्र में स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श और कई तरह के विमर्श चल रहे हैं, उनके बारे में आपका क्या दृष्टिकोण है?

वैदिकोत्तर ब्राह्मण साहित्य में दलित और स्त्री को हाशिये पर डाल दिया गया था, जिसका दुष्परिणाम पतन के रूप में दिखायी दिया. इसलिए उत्पीड़न के गर्भ से



‘शिखर’ एवं ‘जनवादी लेखक संघ’ के संयुक्त तत्वावधान में २३ नवंबर २०१४ को फ़र्रुखाबाद में आयोजित सम्मेलन में ‘कथाबिंब’ की उपस्थिति.

बायें से दायें : सुश्री प्रभा कनौजिया, सुश्री जमुर्द बेगम ‘शाद’, डॉ. रामकृष्ण राजपूत, डॉ. अरविंद (प्र. संपादक, ‘कथाबिंब’), डॉ. श्याम निर्मोही, श्री रामशंकर अवस्थी ‘अबोध.’

दलित और स्त्री-विमर्श का जन्म हुआ. यह जगे हुए समाज का लक्षण है. निश्चय ही ये विमर्श बहुसंख्यक समाज की उत्पीड़क बुद्धि को सही करने का कार्य करेंगे.

❖ क्या साहित्यकार को किसी वाद से जुड़ना चाहिए?

मेरी दृष्टि से सच्चे साहित्यकार को मार्क्सवाद, माओवाद, भगवानवाद, नक्सलवाद, पूंजीवाद, व्यक्तिवाद जैसे किसी भी वाद से बंधकर नहीं चलना चाहिए. उसकी लेखनी तो बहुसंख्यक समाज के हित में बुद्धि, विवेक और कार्य-कारण पर आधारित विज्ञानवाद से जुड़कर चलनी चाहिए.

❖ हिंदी साहित्य के भविष्य

के संबंध में आपको क्या कहना है?

हिंदी क्या किसी भी भाषा का साहित्य तभी सर्वोच्च



भेंटकर्ता :

**डॉ. राजेश हुजेल**

मो. हाता करम खां,

फ़र्रुखाबाद- २०१६२५.

मो. : ९४५०२०५३४६

स्थान प्राप्त कर सकता है जब उसमें उत्कृष्ट समाजोपयोगी ज्ञान-विज्ञान उत्पन्न होता है. हिंदी में अनेक साहित्यकारों द्वारा ऐसा उत्कृष्ट साहित्य रचा जा रहा है. हिंदी ग्रंथों के ज्ञान को समझने के लिए विदेशियों को भी हिंदी सीखनी पड़ेगी. फ़िल्मों के हिंदी साहित्य ने हिंदी को वैश्विक बना दिया है. विविध विषयों में लिखा जा रहा उत्कृष्ट साहित्य विश्व को अपनी ओर झुकने के लिए बाध्य करेगा.

❖ नवोदित साहित्यकारों के लिए आपकी क्या सलाह है?

नवोदित साहित्यकारों के लिए मेरी सलाह है कि मन के रंजन के लिए वे गीत, ग़ज़ल, कविता, कहानी, उपन्यास

इत्यादि अवश्य लिखें; परंतु सर्वाधिक प्रभावकारी बुद्धि-विवेक सम्मत गद्य साहित्य का भी सृजन अवश्य करें.

□ □ □



## भारतीय रंगमंच के महापुरुष श्री इब्राहिम अल्काज़ी

✍ सविता बजाज

**नि**यति का सूत्रधार हमारे लिए पहले से ही भूमिकाएं निश्चित कर देता है और हम उन्हें अभिनीत करने को विवश होते हैं। अनिश्चितता ही इस संसार का सबसे स्थायी प्रभाव है। जीवन तो एक चलता-फिरता वाहन है जिसके आगे घना कोहरा है और पीछे प्रखर प्रकाश। अतीत को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है किंतु भविष्य के कोहरे में कुछ भी देखना संभव नहीं होता।

आज जब अपनी ढलती उम्र में पीछे मुड़कर देखती हूं तो बस मेरे अभिनय गुरु, पिता समान की इब्राहिम अल्काज़ी के सिवा कुछ दिखाई नहीं देता। बस यादें, यादें, यादें ! जो बहुत सुखांत और अनमोल हैं। बचपन का प्यार नहीं मिला तो दिल टूट गया। कहीं मन नहीं लगता था। यूं तो सारी पढ़ाई-लिखाई डॉक्टर बनने के लिए की थी दिल्ली में ही। लेकिन, मेरी भटकती रुह कहीं चैन न लेने देती थी। संगीत, चित्रकारी, डांस, लेखन, ड्रामा जैसी चीजों में सुख मिलता था। बस तय कर लिया कलाकर ही बनूंगी। परिवार में सब बड़े-बड़े ओहदों पर थे लेकिन कला से दूर तक किसी का वास्ता न था। और तो और औरत का कलाकार बनना, बजाज परिवार में मुमकिन ही न था। मैंने खूब बगावत की और मंडी हॉउस की राह पकड़ी।

दिल्ली का मंडी हॉउस, कला का गढ़ था और गढ़ के बीचोंबीच रचा गया रविंद्र भवन जहां कला की अपार संपत्ति थी। संगीत नाटक अकादमी, साहित्य नाटक अकादमी और तीसरी मंज़िल पर बना नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा और इसके कर्ताधर्ता डाइरेक्टर श्री इब्राहिम अल्काज़ी, मेरा भाग्य अच्छा था कि मेरा चयन वहां हो गया। वजीफ़ा भी मिलने लगा, दो सौ रुपये महीना।

एन. एस. डी. में मेरे चार साल बहुत ही यादगार रहे। स्वर्ण युग था वह। सत्तर के आस-पास की बात है। बड़ी बड़ी नामी, ज्ञानी हस्तियां स्कूल में कभी नाटक देखने आतीं या फिर, वर्क शॉप करने। गिरीश कर्नाड,

अमृता प्रीतम, रजिंदर सिंह बेदी, उत्पल दत्त, सत्यदेव दुबे सबसे दोस्ती एन. एस. डी. में ही हुई। मेरा सबसे पहला नाटक 'लहरों के राजहंस' जिसमें मैं अलका बनी, और यह शिवपुरी के निर्देशन में था। मुझे दिल्ली

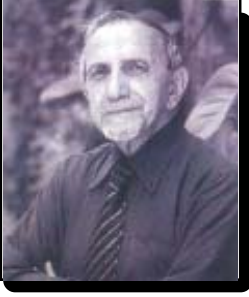


में खूब नाम मिला। मैं दिन रात खूब मेहनत करती। आप कह लीजिए मैंने अपने आपको कला में झोंक दिया। शरीर को फिट रखने के लिए योगा करती, पी. टी. क्लास सर जी लेते। कभी पांच मिनट लेट होती तो सर पांच रुपये रखवा लेते। सर जी मुझे बहुत आदर और स्नेह देते। उनकी हर बात निराली थी। उन जैसा बढ़िया इंसान और सशक्त निर्देशक मैंने आज तक पूरे हिंदोस्तान में नहीं देखा। बस काम का जनून सवार रहता था उन पर। लेकिन विद्यार्थियों के साथ बहुत ही स्ट्रिक्ट रहते थे। कपड़े, रहन-सहन, सिगरेट पीना, ड्रिंक्स, झूठ बोलना सभी बातों पर कड़ी नज़र रखते थे। लेकिन मन में बच्चों के प्रति प्रेम भाव था। सहृदय पिता की तरह उनके भविष्य को लेकर चिंता थी उन्हें।

धीरे-धीरे मैं भी गुरु द्वारा बतायी गयी राह पर चल दी। खूब रिहर्सल करती, संवाद बार-बार लिखकर अपने ढंग से बोलती, गाने की प्रेक्टिस करती। मुझे टायलेट, बाथरूम साफ़ करना, काफ़ी बनाना, झाड़ू लगाना सर जी ने ही सिखाया। सब विद्यार्थियों को भी सिखाना पड़ता था।

“स्टेज क्राफ़्ट में निपुण हो जाओ सविता,” वे अक्सर कहते। मैं अल्काज़ी जी के नक्शे क्रदम पर चल रही थी। कभी-कभी सर गुस्से में वेस्ट्रन इंडियन ड्रामा की क्लास छोड़कर चल देते क्योंकि सब विद्यार्थी क़िताब नहीं लाते थे। मुझे ही सर को दादी मां की तरह समझाना पड़ता। सर घर से थर्मस में काफ़ी लाते थे। बोलते — “ओके. एक कप काफ़ी मुझे दो और एक कप, आप लो.”





### इब्राहिम अल्काज़ी

१८ अक्टूबर १९२५, पुणे (महाराष्ट्र).

भारतीय रंगमंच निदेशक एवं नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा, नयी दिल्ली (एन.एस.डी.) के संगठक एवं पूर्व निदेशक (१९६२-१९७७).

आपकी स्कूली शिक्षा पुणे के सेंट विन्सेंट हाई स्कूल में हुई. बाद में मुंबई के सेंट जेवियर्स कॉलेज में प्रवेश लिया. इसी दौरान आपने पद्मसी की इंग्लिश थियेटर कंपनी में भी काम करना शुरू किया. एन.एस.डी. के अपने कार्यकाल में आपने ५० से अधिक नाटकों का निर्देश किया. प्रसिद्ध प्रस्तुतियों में हैं : गिरीश कर्नाड का

‘तुगलक’, मोहन राकेश का ‘आषाढ़ का एक दिन’, डॉ. धर्मवीर भारती का ‘अंधा युग’. इसके अलावा भी आपने शेक्सपियर के अनेक नाटक और कुछ ग्रीक नाटक भी निर्देशित किये. अल्काज़ी द्वारा कुछ प्रशिक्षित कलाकार हैं : विजया मेहता, ओम शिवपुरी, नसरुद्दीन शाह, मनोहर सिंह, सुहास जोशी, जयदेव, रोहिणी हट्टंगणी आदि.

अपनी पत्नी रौशन अल्काज़ी के साथ आपने दिल्ली की ‘आर्ट हेरीटैज गैलरी’ की भी स्थापना की.

**अलंकरण :** हबीब तनवीर पुरस्कार (२००४), पद्मश्री, पद्म भूषण, संगीत नाटक अकादमी फ़ैलोशिप.

पाठकों, आज मैं अभिनय के क्षेत्र में जहां भी खड़ी हूं उसका सारा श्रेय सिर्फ और सिर्फ अल्काज़ी साहब को जाता है. सर ‘श्री सिस्टर्स’ ड्रामा कर रहे थे. मुझे छोड़कर मेरे सारे सहपाठी उस ड्रामे में थे. बहुत बुरा लगा मुझे. उनकी धारणा थी कि मैं विदेशी नाटकों में फिट नहीं बैठूंगी. बाद में मैंने उस ड्रामे में सबसे छोटी बहन आइरीना का पात्र निभाकर दिल्ली में खूब वाह-वाही लूटी और उनकी धारणा को गलत साबित किया. एक बार मेरा जन्म दिन था. रिहर्सल में मुझे रोना ही नहीं आ रहा था क्योंकि उस दिन मैं बहुत खुश थी. सर को यह बर्दाश्त नहीं हुआ. उन्होंने मेरा कान मरोड़ा और पीठ पर एक धौल जमा दी. बस मेरा रोना शुरू हुआ तो रुकता ही न था. बोले — “अब जाकर मुंह धोकर आओ और पूरी रिहर्सल दोबारा करो.” उनकी बेटी को तो रोना नहीं आता था. वह भी मेरे साथ नाटक में बड़ी बहन का पात्र कर रही थी. वह ग्लिसरीन का प्रयोग करती थी रोने के लिए. मुझे तो यह सब तब मालुम भी न था. बंबई आने पर पता चला कि हीरोइनें ग्लिसरीन का इस्तेमाल फ़िल्मों में करती हैं, रोने के लिए. मैंने तो आज तक फ़िल्मों में भी यह सब नहीं किया. मुझे तो रिहर्सल में भी असली आंसू बहाने पड़ते थे. उन दिनों अल्काज़ी जी ने एन. एस. डी. में एक नया चलन शुरू किया. एक ही पात्र को दो अभिनेत्रियों से करवाने का. मुझे अच्छा न लगा. मेरी संवाद अदायगी, अभिनय शैली, आवाज़ का उतार-चढ़ाव मेरे जैसा कोई क्यों करें? खूब मेहनत के बाद में ‘श्री

सिस्टर्स’ का पहला शो अल्काज़ी ने मेरी सहपाठी से करवाया तो दिल टूट सा गया था. बंबई से काम के खूब बुलावे आते थे, दिल्ली में मेरी डिमांड थी — चाहे वे दूरदर्शन के नाटक थे या फिर रेडियो या फ़िल्म डिवीज़न की छोटी फ़िल्में.

परिवार वाले मुझसे नाराज़ थे. कहते — काहे के नाटक? तूने तो नाटक करके अपनी जिंदगी बर्बाद कर ली. खुद तो नाच रही है हमें भी नाच रही है. सुबह निकलती है, आधी आधी रात को घर आती है. छोड़ दे यह सब. असल में मैं भी चौबीसों घंटे नाटक नाटक करके थक चुकी थी. मन खराब हो गया था राजनीति से जो एन. एस. डी. में उन दिनों चल रही थी. सोचा बस, और नहीं. एन. एस. डी. में मेरी कहानी खत्म.

अल्काज़ी जी अरब मूल के हैं. शिक्षा पूना, लंदन और बंबई में हुई. बंबई में अंग्रेज़ी नाटकों के मंचन से खूब विख्यात हुए और साथ ही विश्व में भी कई नाटक कंपनियां खोलीं. बाद में दिल्ली आकर एन. एस. डी. की स्थापना भी अल्काज़ी जी ने की. इसके भाग्य विधाता भी आप ही हैं. आज फ़िल्मों में हज़ारों नामी एक्टर एन. एस. डी. के हैं जिन्हें अल्काज़ी जी साहब ने ही शिक्षा, दीक्षा दी. सब इन्हें अपना गुरु मानते हैं. ‘आषाढ़ का एक दिन’ मोहन राकेश का लिखा, डॉ. धर्मवीर भारती का ‘अंधा युग’, गिरीश कर्नाड का ‘तुगलक’ बहुत ही मशहूर हुए. पंडित जवाहर लाल नेहरू, राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन, श्रीमती इंदिरा

गांधी सब इनके नाटक देखने आते थे. अंग्रेज़ी पृष्ठभूमि होने पर भी हिंदी के मर्म को पहचानते थे सरजी.

रंगकर्मियों और कलाकारों को प्रयोगों की प्रेरणा देते हुए उनकी संभावना का क्षेत्र आपने विराट किया. उसे विस्तार दिया. आपने अंग्रेज़ी के पचासों नाटकों में भूमिकाएं भी कीं. मैंने आज तक बड़े-बड़े निर्देशकों के साथ रंगमंच पर काम किया — जैसे हबीब तनवीर, बी. एम. शाह, सत्यदेव दुबे, चमन बग्गा लेकिन अल्काजी जी जैसा कोई दूजा हो ही नहीं सकता.

अल्काजी जी ने हिंदी रंगमंच को एक सशक्त, जीवंत एवं गंभीर अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में दिखाया. रंगमंच को मनुष्य के सांस लेने के समान आवश्यक बताया.

मैं दिल्ली गयी थी किसी काम से. एक करिश्मा हुआ. सर बंगाली मार्केट के पास त्रिवेणी कला संगम के बाहर अपनी कार के पास खड़े थे. कुछ भी न बदला था. हां, चेहरे पर उम्र की लकीरें गहरा गयी थीं. सधे हुए बालों में सफ़ेदी झलक रही थी. हम दोनों के बीच गहरी खामोशी की खाई थी. मैं हिम्मत जुटाकर बोल ही दी — “सर आपने थैयटर छोड़ दिया, ऐसा सुना है?” — सर मन ही मन कुछ कह रहे थे जो मेरी समझ से बाहर की बात थी. “लुक सविता, मुझे जाना है,” कह कर गाड़ी स्टार्ट कर फुर्र से उड़ गये. यह वही सर थे जो मुझे पचासों बार लिफ़्ट देते थे. इसे कहते हैं समय का फेर. सोचने लगी मैं भी तो थैयटर छोड़ चुकी हूँ. बंबई में नाटक करके रात दो-दो बजे घर पहुंचती थी खाली पेट. डर लगता था देर रात अकेले जाते. थैयटर वाले न घर पहुंचाते थे और न ही टैक्सी फ़ेयर देते थे. काहे की शौहरत और नाम! बहुत कर चुकी थैयटर दिल्ली में. हिंदी थैयटर वाले हमेशा पैसे का रोना रोते हैं इसीलिए तो कलाकार फ़िल्मों की तरफ़ भागते हैं.

बदलाव प्रकृति का नियम है. हर क्षेत्र में बदलाव आ रहा है लेकिन इंसान न बदला है, न ही बदलेगा. अतीत याद आता है, तो सोचती हूँ शायद मैं उन्हें रोक लेती कि मत छोड़ो एन. एस. डी., फिर सोचती हूँ मुझे भी सर ने बहुत बार दिल्ली बुलाया, क्या मैं लौट सकी. मैं बहुत दूर निकल चुकी थी. हो सकता है अल्काजी जी भी कहीं बहुत दूर निकल चुके हों, कौन जाने ! मैंने एन. एस. डी. में जाकर आपका ऑफ़िस देखा, अच्छा नहीं लगा. चीज़ों से छेड़छाड़ की गयी थी. कुर्सी का स्थान बदल गया था.

## गज़ल

### अशोक 'अंजुम'

यूं परवतों से उतरती है शान पानी की,  
कि गीत छेड़ रही है जुबान पानी की ।  
ये जो बादल हैं परिंदे हैं अर्श पर फैले,  
या कि निकली है सफ़र पे उड़ान पानी की ।  
बढ़ी जो प्यास तो दर्या ने भी मुंह मोड़ लिया,  
लगी है जाल बिछाने दुकान पानी की ।  
ये कहीं राह में बेसुध न होके गिर जाये,  
यूं बढ़ रही है मुसलसल थकान पानी की ।  
ये शहर बढ़ रहे हैं ले के क्रातिलों का हुजूम,  
मुझे है डर कि ये ले लें न जान पानी की ।

श्री सं. अभिनव प्रयास,  
गली- २, चंद्र विहार कॉलोनी, अलीगढ़- २०२००२.  
मो. : ९२५८७७९७८४.

एक विद्यार्थी, डायरेक्टर की कुर्सी पर बैठा था. हां आपका पेड़ उसी जगह खड़ा था जहां आपने लगाया था. उसे उखाड़ फेंकने की हिम्मत किसी में नहीं थी.

आजकल एन. एस. डी. वाले मुझे अक्सर कनवोकेशन कार्यक्रम के लिए दिल्ली बुलाते हैं, नहीं जाती. मन ही नहीं करता. अरे, जिस एन. एस. डी. की नींव अल्काजी जी ने रखी, भाग्य विधाता ही रूठ कर चला गया. जिसकी वजह से सविता बजाज नाम हुआ, उस भवन में मैं कैसे जा सकती हूँ जहां का सिंहासन डोल गया. लगता है बिना रुह के चल रहा है एन. एस. डी. वहां आजकल क्या नहीं है. खुद की बसें हैं, थैयटर हाल हैं, होस्टल है. अगर नहीं है तो बस प्राण नहीं हैं, रुह नहीं है. सुना है, सर जी आज कल बंबई में ही चित्रकला से जुड़ गये हैं. सर जी एक बार तो कहीं मिलिए प्लीज़. मुझे आपसे ढेरों बातें करनी हैं. आपके साथ काफी पीनी है. एक गाना है न — ‘कहां हो तुम, ज़रा आवाज़ दो, हम याद करते हैं.’

हाय! याद न जाये बीते दिनों की. क्या करूं.....

श्री पो. बॉक्स-१९७४३, जयराज नगर,  
बोरिवली (प.), मुंबई-४०००९२  
फ़ोन : ९२२३२०६३५६

## मत-मतांतर

संदर्भ : 'कथाबिंब' का अक्टूबर-दिसंबर '१४ अंक

✍ कुरेश्वर

भूकंप आने पर भिती-घर के अंदर चौकी हिलने लगे, तो उसमें रहने वाला पढ़ना-लिखना छोड़ अपनी जान बचाने के लिए बाहर की ओर निकल जाता है सब छोड़ कर. फिर सुनामी के बाद बचे-खुचे सामान को समेट, सिर झुका कर बैठ जाता है और अंदर-ही-अंदर अपने दर्द को सिलने की कोशिश करता है. कुछ इसी तरह के दर्द को सिलाने की कोशिश में लगा हूं, पिछले कई-कई महीनों से या फिर यूं कहूं कि मल ढोने वाला व्यक्ति (पहले कभी आपने देखा हो) अपने सिर पर मल की बाल्टी लिये रास्ते से गुजर रहा हो, जिसे देखकर दूर से ही लोग हट जाते हों, लेकिन उस व्यक्ति की हालत यह कि अब गिरा कि तब गिरा और दूर-दूर उसकी सहायता करने वाला कोई न हो. तो सोचिए कि कितनी कठिनतम स्थिति उस व्यक्ति की होगी.

उपरोक्त उदाहरणों को देने का कारण यह है कि कथाकार संपादक स्व. कमलेश्वर ने 'नयी कहानी' के संबंध में एक विमर्श दिया था — 'भोगा और झेला हुआ यथार्थ.'

तो आज भी किसी कहानी की श्रेष्ठता के लिए जरूरी है कि कोई भी रचना अपनी संरचना में उपरोक्त मान्यताओं के स्तर पर सही उतरे. देखा गया है कि बहुधा भोगा हुआ यथार्थ कहानी के रूप में सही ढंग से उतर नहीं पाता क्योंकि यथार्थ भोगने वाला व्यक्ति किन्हीं कारणों से उसे लिख पाने में पूर्ण रूपेण सक्षम नहीं होता और झेला हुआ यथार्थ (देखा हुआ या मस्तिष्क में चिंतन स्तर पर, कुछ समय बाद भी) अपने लेखन में प्रायः सतही और अविश्वसनीय हो जाता है. इस तरह के खतरे आजकल अधिकांश कहानियों में परिलक्षित होते हैं. इसका एक खास कारण यह भी है कि इन दिनों ज्यादातर संपादकों की कैची भोथरी हो गयी है. वे रचनाकारों से न तो संवाद करते हैं, न ही कोई रचनात्मक दिशा-निर्देश देते हैं; जैसा कि छठे, सातवें और आठवें दशक के संपादक किया करते थे. पता नहीं

किस मजबूरी के शिकार हो चले हैं सब. जबकि साहित्यिक मशाल जलाने की बात तो करते हैं?

दूसरा कारण है, रचना के परिवेश, अंतर्निहित घटनाएं, तथा स्थानीयता से संपादक की अपरचिति. हर संपादक के लिए सर्वदा यह संभव नहीं, किंतु किसी रचना के प्रति जिस प्रकार एक रचनाकार उत्तरदायी है, ठीक उसी प्रकार एक संपादक का भी यह दायित्व है कि वह हर रचना को पहले पढ़े, भली-भांति समझे और तब छापे.

वह जिस विधा की रचना प्रकाशित कर रहा है, उसमें पारंगत भले न हो, किंतु समुचित जानकारी तो हो. यदि गजल के रुक्न, बहर, रदीफ, क्राफिया आदि की पूरी जानकारी नहीं है तो गजल न छापें या फिर किसी सिद्धहस्त गजलकार से मदद लें; इसमें कोई बुराई नहीं है.

देखा जाय तो साहित्यिक रचनात्मक दृष्टि लाने के लिए रचनाकार और संपादक दोनों को मेहनत, मशक्कत, धैर्य और चिंताधारा की तलवारों की धार पर से गुजरना पड़ता है. जिनका इन दिनों काफ़ी अभाव है. हिंदी साहित्य के लिए यह एक दुःखद समय है.

कुछ इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए 'कथाबिंब' के (अक्टूबर-दिसंबर २०१४) अंक पर मेरी प्रतिक्रिया....

कहानी 'अपहरण'; मालती जोशी वरिष्ठ और समझदार लेखिका हैं लेकिन न जाने क्यों उन्होंने इस कहानी के मूलतत्त्व 'मान-भंग' पर ही स्वयं को केंद्रित नहीं किया. तब कहानी अपनी बात कहती. लेखिका यदि अकेली किसी भी गाड़ी (बस, ट्रेन के स्लीपर में ही सही) से अकेली जा रही होती तो राऊरकेला का घंटा उनकी चेतना में कहीं अधिक जोर का बजता. ए. सी. श्री में तो आवाज़ें जम जाती हैं.

दरअसल, एलिट क्लास की इस तरह पगी संवेदनाओं से ओत-प्रोत ढेरों धारावाहिक आजकल टी. वी. पर आ रहे हैं, जहां किसी भी समस्या को दर्शाने के लिए कोई

भी चरित्र अवांछित रूप से अन्य पात्रों के बीच आ जाता है और फिर गायब भी हो जाता है. धारावाहिक का सारा दृढ़ निर्देशक के मस्तिष्क में उपजता है और ऐसे में लेखक वही लिखता है, जो निर्देशक चाहता है. इसके विपरीत कथा साहित्य में चार बिंदुओं पर विशेष ध्यान देने की आवश्यक होती है; यथा — कथा, कहन, पटकथा और संवाद का चारित्रिक एवं परिवेशगत विश्वसनीय समायोजन. यदि ऐसा नहीं होता तो प्रेमचंद या सुदर्शन (दूसरे कई) की कहानियां हमें आज तक कचोटती नहीं.

दूसरी कहानी 'सर्वशिक्षा' — सर्वशिक्षा अभियान के तहत भारत में जितने भी कार्यक्रम चल रहे हैं, उसके बारे में गांव तथा बाहर के लोग समाचार पत्रों में पढ़कर, टी. वी. पर देखकर भली-भांति परिचित हैं. इसमें नया क्या है? कौन-सा अनछुआ पहलू है?

साहित्य की तो यही महत्ता है कि जब भी कोई सामाजिक घटना साहित्य (विशेषकर कथा) के फॉर्म में आती है तो उसमें एक दृढ़ात्मक विस्फोट की संभावना बनी रहती है न कि ज़हर मिश्रित मक्खन को क्रलम के चाकू से कथा स्वरूप ब्रेड पर लगाकर बच्चों में बांटे ?

भाषा की चालाक्री शब्द को ज़हरीला तो बना सकती है, साहित्य को मज़बूत नहीं कर सकती है और न ही अमृत पिला सकती है. अवांतर एवं असत्य चरित्र (पात्र) का निर्माण कथाकार को कमज़ोर ही नहीं करता, उसे हाशिये पर भी छोड़ देता है. इस कहानी का आरंभ ही अत्यंत सतही और अविश्वसनीय है. देखें —

'टेंपो चौक पर रुका. मास्टर रामनारायण मंडल उससे उतरे. झक सफ़ेद धोती-कुर्ता. हाथ में काले रंग का फूला हुआ फोलियो बैग. मास्टर साहब टेंपो वाले को पैसा देकर चले... आगे एक चाय की दुकान थी.'

'ऐ पंडित,' मास्टर साहब ने....

अब ज़रा तथ्यगत कमज़ोरियों पर ध्यान दें — मास्टर रामनारायण क्या बहुत करीब में खाली टेंपों में अकेले सवार हुए थे कि झक सफ़ेद धोती-कुर्ता में मौजूद थे? जबकि स्थिति यह है कि बिहार की बस या टेंपो में इतनी भेड़िया-धसान होती है कि खुदा की पनाह...! वहां तो झक सफ़ेद धोती-कुर्ता केवल बाबू साहब लोगों (जमींदार वंशावली के) या एम. एल. ए., एम. पी. साहब के दिखाई पड़ते हैं. इनके अलावा लोगों के चेहरे तथा कपड़ों तक में सिकुड़न आ जाती है अनचाहे. मास्टर साहब का

जो कैरेक्टर (ऐ पंडित कहकर) तैयार किया गया है, उससे नहीं लगता कि उन्होंने टेंपोवाले को पैसा (किराया या भाड़ा कितना?) निकाला और दे दिया.

बिहार के शिक्षकों से मेरा बहुत करीब का साबका पड़ा है, इसलिए (मंडल) मास्टर चौक की चाय दुकान पर, ब्राह्मण चायवाले को 'ऐ पंडित' कहकर नहीं पुकारेगा. रचनाकार किसी व्यक्तिगत कुंठा या वैषम्य-भाव से ग्रस्त है, अन्यथा रामनारायण मंडल न लिखकर केवल मास्टर रामनारायण भी लिख सकते थे.

इस तरह की विषाक्त-सोच से रची गयी (जोड़-तोड़कर) कहानियां कभी भी अच्छा प्रभाव नहीं डालतीं क्योंकि किसी कैरेक्टर (कथा-चरित्र) का निर्माण व्यक्ति-चरित्र निर्माण की तरह ही एक कठिन प्रक्रिया है.

'कुसुममाला' कहानी में बिहार की कन्याओं का विवाह के पश्चात ससुराल में अपने गांव (मायके) के नाम से पुकारे जाने की प्रथा कितनी पुरानी है, यह एक शोध का विषय है. हां, आधुनिक शिक्षित महिलाओं के भीतर यह एक दर्द बनकर ज़रूर उभरा है. मैं खुद अपनी काकी का नाम उनकी मौत से पहले तक नहीं जान पाया था, या जानने का अवसर ही नहीं मिला था. गांव की बूढ़ी औरतें या उनकी समकक्ष उन्हें तेथरा (मायके गांव का नाम) वाली कहकर बुलाया करतीं. लेकिन मैंने उनके चेहरे पर कभी कोई वितृष्णा या विरोध नहीं देखा था. वैसे, घर में वे रिशतों के ज़रिये ही बुलाई जाती थीं... काकी, चाची, मामी, भौजी, दादी.... नानी... दैया.... आदि ... आदि... हालांकि हम यह भी देखते हैं, पंजाब में अधिकांश सिकखों (पुरुषों) के नाम में उनके गांव का नाम जुड़ा होता है एक पदवी की भांति, जिसके लिए वे गर्व महसूस करते हैं.

बहरहाल, नाम की इस पीड़ा को निरुपमा जी ने बहुत ही तीव्रता से महसूस किया है और उसे एक कहानी में समेटने की कोशिश की है. काश! उन्होंने इसे एक उपन्यास का रूप दिया होता.

'मैला-आंचल' जैसा उपन्यास देने वाले अमर उपन्यासकार 'रेणु' की उस धरती को प्रणाम, जिसकी मिट्टी में इस तरह के दर्द उपन्यास बीज-रूप में बिखरे पड़े हैं. यही सोचने का विषय है कि लेखिका ने नाम के दर्द को ही केवल कहानी का केंद्र बिंदु नहीं बनाया, बल्कि कई पीढ़ियों के काल-खंड को समेट गयीं और दर्द बिखर गया.

किसी विशेष चरित्र पर जब भी कोई कहानी लिखी

जाती है तो उसमें सामान्य कहानियों की अपेक्षा कई गुना अधिक श्रम, परिवेशगत आधार एवं चारित्रिक सत्यता की मांग होती है। 'उसने कहा था', 'हार-जीत', 'पूस की रात' आदि-आदि। 'कमज़ोर पार्टी' कहानी भी इसी प्रकार एक चरित्र को लेकर लिखी गयी बेहद कमज़ोर कहानी है। इस कहानी को पढ़ते हुए मुझे जितनी हैरत हुई, उससे कहीं अधिक पीड़ा हुई कि गोविंद उपाध्याय (जो कि कई वर्षों तक फ़िल्मों से जुड़े रहे तथा उनकी एक लंबी कथा यात्रा है) ने इस कहानी में वैयाकरणिक दृष्टि एवं वाक्य विन्यास की घोर उपेक्षा क्यों की? क्या पहले कभी किसी पाठक या मित्र ने इस ओर संकेत नहीं किया? या फिर यह कोई बहुत पुरानी कहानी लिखी रखी थी, जिसे उठाकर बिना देखे ही छपने भेज दिया?

उदाहरण के तौर पर मैं केवल पहले पैराग्राफ़ की ओर ही ध्यान दिलाना चाहूंगा...

एक : चौराहे का माहौल सही ढंग से उभरा नहीं है।

(जबकि एक पटकथा लेखक भली-भांति जानता है; किस प्रकार कम से कम शब्दों में माहौल क्रिएट किया जाता है.)

दो : पास की चाय की दुकान पर...

(इस प्रकार के लेखन में भाषा-दोष है)

होना चाहिए था — 'पास वाली चाय की दुकान पर या बगलवाली...

तीन : नहीं तो गरमी के मौसम में तो ... यहां ग्यारह बजे तक मज़में जैसा दृश्य होता।

होना चाहिए था — नहीं तो गरमी के मौसम में... यहां ग्यारह बजे...

चार : 'मज़मा' शब्द खुद में ही भीड़ का अर्थ देता है जिसमें काफ़ी विस्तार है... मल्ल युद्ध से लेकर... तीतर, बटेर, मुर्गे की लड़ाई, बंदर-खेल, जादू का खेल आदि बहुत कुछ शामिल है। अतः मज़मा लगा होता रहता ... ही यथेष्ट था।

पांच : उर्दू का हर शब्द हिंदी में उर्दू वाला ही सही अर्थ नहीं दे पाता। जैसे... दिसंबर की सर्दी अपने शबाब पर थी। सही है — किंतु दिसंबर का जाड़ा अपने यौवन पर था — ग़लत है। अनजाने में भी इस तरह की ग़लतियां हो जाती हैं।

छह : अशरफ़ी के ठेले पर.... (नहीं) होना चाहिए - अशरफ़ी के ठेले पर जैसे गिर पड़े हों... या पास...

'कूलर' कहानी — 'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा', वाली कहावत इस कहानी के साथ चरितार्थ होती है। यह न तो कहानी है, न उपन्यास। इसमें न कोई द्रंढ है न विमर्श और न ही कोई संदेश है न संघर्ष। बस, गप है।

अब एक नज़र ग़ज़लों की ओर....

पृष्ठ १० पर ग़ज़ल छपी है - पोंछ कर अश्क ...

जहां तक मुझे याद है, साहिर लुधियानवी की एक ग़ज़ल थी —

'पोंछ कर अश्क अपनी आंखों से,

जो मुस्कुराओ, तो कोई बात बने !

सिर झुकाने से कुछ नहीं होगा,

सर उठाओ तो कोई बात बने ॥'

इस ग़ज़ल का इस्तेमाल (शायद) फ़िल्म 'हमराज़ में एक गीत की तरह इस्तेमाल किया गया है, जिसकी धुन बनायी थी रवि ने।

अब यदि कोई दूसरा यह लिखे — पोंछ कर अश्क अपनी आंखों से, मुस्कुराने की ही आदत डालो, सर झुकाना कोई कमाल नहीं, सर उठाने की भी आदत डालो,' तो क्या वह खुद को धोखा नहीं दे रहा /रही? इस प्रकार का रचना संस्कार क्या साहित्य के प्रति अन्याय नहीं?

पृष्ठ ३४ पर एक ग़ज़ल देखें...

'शाम सवेरे ढलता तो है...'

क्या रचनाकार यह नहीं जानता कि चांद सुबह-शाम दो बार नहीं ढलता, एक ही बार छुपता है... वरन सूरज की रौशनी में भी कभी-कभी वो दिखाई न देता। — दरअसल, चांद घटता और बढ़ता है। सूरज की तरह डूबता या उगता नहीं है।

इनकी दोनों ही ग़ज़लों में काफ़ी ग़लतियां हैं, कितनों का उल्लेख करूं?

यह एक सुखद संयोग है कि 'नाम में क्या रखा है?' लघुकथा इसी अंक में है, जिसमें नाम का दर्द पूरी शिद्दत से उभरा है। ऐसा ही बल्कि इससे भी कहीं गहरा दर्द उभरा होता 'कुसुममाला' में। रचना-संस्कार की इसी विरासत को हमें समझने की आवश्यकता है।

'सागर-सीपी' के अंतर्गत 'क्रांति विचार से आती है, शब्दों से नहीं' - डॉ. शांति सुमन के इस वक्तव्य से पूरी तरह सहमत हूं। 'चाकू' कविता की कुछ पंक्तियां याद आ रही हैं —

‘चाकू... चाकू... चाकू...  
सिर्फ चाकू कहके चिल्लाने से  
पैदा नहीं हो जाती काटने की शक्ति,  
मक्खन काटने वाला चाकू  
सिर्फ मक्खन लगाने के काम आता है।’

बड़ा ही सुखद लगा कि श्रीमती मधु प्रसाद, डॉ. शांति सुमन का साक्षात्कार लेती हुई उनके गीतों में उनके साथ तैरती रहीं. लगा, जैसे दो अप्रतिम सुंदरियां किसी पंचतारा होटल के सुंदर स्वीमिंग पूल में निर्द्वंद्व जल-क्रीड़ा कर रही हैं !

सुंदर, मधुर, रसमयी भाषा में प्रश्न और उसी के अनुरूप मधु-मिश्रित तथा शीतल वायु के मंद-मंद झोंके सा उत्तर. सच, किसने छीन ली हमारे भीतर की वो गीत-संवेदना, वो रचना-संस्कार? हम क्यों नकारते जा रहे हैं अपनी इस प्रिय धरोहर को?

‘कुछ कही, कुछ अनकही’ स्तंभ में अरविंद जी आप सदैव समयानुकूल हस्तक्षेप करते हैं, इस बार भी आपने केंद्र की राजनीति, विदेशी कालाधन, प्रमोटरो का सुरसा बनते जाना तथा विज्ञापन के बाजार की ओर ध्यान आकर्षित किया है.

मैं तो यह कहूंगा कि ऊंचे पेड़ों पर कूदनेवाला राज हमेशा बंदरों के हाथ रहा है और बंदर जानते हैं बंदर बांट की चालाकी. ‘चरखा कातो’ आंदोलन तो आज़ादी के साथ ही ख़त्म हो गया. अब किस वस्तु का हम विरोध करेंगे और कैसे? विज्ञापन का अपनापन तो ऐसा है कि दस दिनों तक टी. वी. पर बेगाना दिखने वाला आदमी ग्यारहवें दिन अपना लगने लगता है.

अब ‘लेटर-बॉक्स’ — सविता जी, मैं आपकी इज़्ज़त करता हूँ, किंतु आपकी इस बात से... (हर व्यक्ति महान लेखक नहीं बन सकता...) सहमत नहीं हूँ, ‘लेखक (एक व्यक्ति) स्वयं में कैसे महान हो सकता है, यह तो उसकी महान रचना उसके महान कहे जाने में सीढ़ी बनती है. किसी भी क्षेत्र में अच्छे कर्म ही मनुष्य को महान की संज्ञा दिलाते हैं या सर्वनाम से जोड़ते हैं. तभी तो अच्छे-बुरे की कल्पना है और आलोचना भी. इसीलिए ज़रूरी है कि हम कम लिखें मगर अच्छा लिखें.

आपने मंदिर, बुतखाने की बात उठायी है, त्रुटियों की ओर उंगली उठाने के कारण...

सविता जी, मंदिर हो, मस्जिद, गिरजा या गुरुद्वारा सभी धर्मस्थलों का एक विशेष आकार है तथा समय-

## कविता

### नायी नदी है!

✍ प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय

नदी उछलती भागती  
बहती जाती है अविद्यम,  
सरसाना, हरषाना उसका काम है  
अगजण का सिंचन धर्म  
पर जब वह तोड़ती है तट की मर्यादा  
नहीं रहती है उसकी चेतना सम् पर,  
फिर वह प्रलय मचाती है,  
विनाश का खेल रचाती है,  
नायी श्री कामदुधा है,  
पालती है, पोषती है,  
कामनाओं के सहस्र फूल खिलती है  
पर जहां अपनी मर्यादा की सीमा  
तोड़ती है, कुलटा कहलाती है,  
इहलोक, परलोक दोनों बिगाड़ती है,

✍ १/२१, वृंदावन, मनोरम नगर,  
लूबी सर्कुलर रोड, धनबाद-८२६००१.

समय पर उसे अधिक से अधिक सुंदर स्वरूप देने की कोशिश भी होती है, उसके बावजूद वे सभी स्थल अपने एक विशेष आकार और स्वरूप के कारण अपने विशेष नाम से जाने जाते हैं. अन्यथा सब गड़मड़ हो जाता.

ठीक यही मांग हर रचना की होती है कि उसे एक सही स्वरूप और आकार मिले. तभी पूरा होता है या फलीभूत होता है — रचना-संस्कार. जब हम भाषा की बात करते हैं तो उसके संस्कार की बात कैसे भूल सकते हैं?

किसी भी पत्रिका में कहानी, कविता, गज़ल, आलेख आदि समेट देना ही अभीष्ट नहीं, बल्कि संपादकीय दृष्टि तथा रचना संस्कार देना भी एक दायित्व है.

दूसरी ओर एक रचनाकार का भी दायित्व है कि वह हूबहू किसी रचना की नकल करके अपने सपनों की खुशफहमी में न झूले और आने वाली पीढ़ी को अंधकार में न डाले. फिलहाल इतना ही.

✍ पी-१६६/ए, मुदियाली फ़र्स्ट लेन,  
कोलकाता-७०००२४.  
मो. ९८३१८९४१९३



## भीड़ से अलग कहानियां

✍ महावीर उत्तरांचली

**बारिश, ठंड और वह** (कथा संग्रह) : गजेंद्र रावत

**प्रकाशक** : कश्यप पब्लिकेशन्स, बी-४८, यूजी-४,  
दिलशाद एक्स १०-२, गाज़ियाबाद-२०१००५.

मू. १८०/-

**वा**स्तविकता के बहुत करीब हैं कथाकार गजेंद्र रावत की 'बारिश, ठंड और वह' की कहानियां। कहानियों के इस संग्रह में, जीवन के अलग-अलग अनुभवों को बड़ी ईमानदारी और परिपक्वता के साथ कागज़ पर गजेंद्र जी ने उकेरा है।

वरिष्ठ कथाकार क्षितिज शर्मा जी ने पुस्तक की भूमिका में सटीक कहा है, 'गजेंद्र रावत के पात्र तथाकथित सभ्य समाज की दृष्टि से उपेक्षित और मुख्यधारा से कटे लोग हैं। पर अपनी दिनचर्या की छोटी-छोटी घटनाओं में, छोटे वार्तालापों में वे मानवीय मूल्यों और परपीड़ा को अपनी पीड़ा में समावेश कर मनुष्यता का विराट रूप प्रस्तुत कर देते हैं। यही तथ्य कहानियों को भीड़ से अलग ठहराने का अतिरिक्त आग्रह करता जान पड़ता है। यही इन कहानियों की विशिष्टता भी है।'

पिता के समूचे वात्सल्य और अनुभव को 'सुबह' नामक कहानी में जिस सधे हुए शिल्प के साथ कथाकार ने पिरोया है। वह पढ़नेवाले के अंतर्मन के तारों को भाव-विभोर कर देता है। कैसे आन्या और मान्या के रूप में पिता का पितृत्व ममतामयी शकल इख्तयार कर लेता है! आधुनिक जीवन की आपाधापी के बीच आज भी रिश्ते में बची हुई ताज़गी का चित्र प्रस्तुत करती है 'सुबह'।

'आईस्टीन' कहानी को मैं ओ हेनरी की 'बीस साल बाद' से तोलता हूँ तो तराजू के दोनों पलड़ों को एक समान पाता हूँ, दोनों कथाकारों ने इन कथाओं में मानवीयता के श्रेष्ठ बिंदुओं को छुआ है। दोनों कथाओं में मित्रता का स्तर पुरानी यादों को ताज़ा करना और छले जाने की पीड़ा का अलग-अलग शिल्प है। न केवल कथानायक को

हक्का-बक्का कर जाता है बल्कि पाठक भी ऐसे अंत की कल्पना दोनों कथाओं में नहीं सोच पाता! यही दोनों कथाकारों की विशेषता है।

पूरे विश्व में पुलिस का चरित्र एक जैसा ही है। विश्व विख्यात रूसी लेखक चेखव ने 'गिरगिट' में वर्दी को जिस सूक्ष्मता के साथ बेनकाब किया है, ठीक 'धोकेबाज़' कहानी में गजेंद्र रावत भी पुलिस के दोगलेपन को उजागर करने में पूर्णतः सफल रहे हैं।

'सीन ही बदल गया। सारी मस्ती धरी रह गयी। काली के तिपहिए से निकली लोहे की छड़, क्रायदे से आइना लगा होना था, अचानक प्रकट हुए दुपहिए पर पीछे बैठे हवलदार के कान से छूकर चली गयी। कान बुरी तरह लहलुहान हो गया।' इस पैराग्राफ़ से 'धोकेबाज़' कहानी आरंभ होती है और यह उत्तेजना पाठक कथा के अंत तक पहुंचने तक अपने भीतर पाता है। गजेंद्र जी इस कथा के लिए विशेष तौर पर बधाई के पात्र हैं।

'फ़ेयरडील,' 'अकेली,' 'नवाब,' 'कस्तूरी,' 'मरा हुआ आदमी,' 'धुआं,' संग्रह की अन्य उत्कृष्ट कहानियां हैं जिनमें नये पन की ताज़गी यत्र-तत्र-सर्वत्र दीख पड़ती है और मानना पड़ता है कि क्यों कथाकार देश की सभी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं में पिछले एक दशक से अपनी पहचान बनाने में सफल रहे हैं। परंपरागत शिल्प को तोड़ते हुए नये की तलाश, छटपटाहट वही है जो उन्हें अग्रिम पंक्ति के कथाकारों में ला खड़ा करती है। कथा में जिस धैर्य, समर्पण और एकाग्रता की आवश्यकता कथाकार को होती है - गजेंद्र जी की कथाओं में परिपक्वता का वह स्तर सौ प्रतिशत है।

संग्रह की शीर्षक कहानी 'बारिश, ठंड और वह' संवेदनशीलता के स्तर को गगन की ऊंचाइयों तक ले जाती है। कमोवेश हर विकासशील देश के अस्पतालों की यही त्रासदी है; जहां फुटपाथ में रहने वाले रोगियों की संख्या बहुतायत में है। मौसम की बेरहमी के शिकार फुटपाथी भी अपने जीने की माकूल परिस्थितियां पैदा कर

ही लेते हैं. नर्स और मरीज़ के मध्य उभरी मानवीय संबंधों की यह कथा लंबे समय तक याद रखी जायेगी.

‘डेढ़ हजार की पर्ची’ भी संवेदना के तारों को बार-बार झंकृत करने में कामयाब रहती है. चोखेलाल जैसा चालाक व्यक्ति भी, घोर निर्धनता में जीवन व्यतीत करते क्रेदी नदीम के परिवार को देखकर पिघल उठता है. ‘निरक्षरता कभी-कभी सामनेवाले को भरपूर मौक़ा देती है कि कागज़ की निर्मम लिखावट को छिपाकर माहौल मुताबिक नये शब्द गढ़ ले.’ ये पंक्तियां विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं और कथा की जान भी. भावना में अधिक शक्ति होती है जो लुटेरे को भी लूट लेती है. कहां कुछ कमाने की गरज से पहुंचा चोखेलाल, अपनी जेब से ही पांच सौ रुपये निकालकर बुढ़िया को देते हुए कहता है, ‘ये रख लो, नदीम ने कहा था कि आपको दे दें. बहुत खर्च होता है.... ऐसे में.’

कुल मिलाकर यह मानना पड़ता है कि अच्छी रचनाओं को आत्मसात करने के बाद रचनाक्रम से जुड़े बुद्धिजीवियों को कुछ नया करने की प्रेरणा मिलती है. भला अच्छी कहानियों को एक क़िताब की शकल में पढ़ना, किसको सृजन की प्रेरणा नहीं देगा! कथा साहित्य के भविष्य को गजेंद्र जी से अन्य संकलनों में भी इसी उत्कृष्ट कालजयी बिंदुओं को आत्मसात कर लेने वाली कथाओं की उम्मीद है. जो नयी पीढ़ियों के कथाकारों के लिए संजीवनी का काम करती रहेंगी.

बी-४/७९, पर्यटन विहार,

वसुंधरा एन्कलेव, दिल्ली-११००९६.

मो. : ९८१८१५०५१६

ई-मेल: m.uttranchali@gmail.com

## अभूर्त पूर्व गीत अनुष्ठान ‘गीत पर्व’

डॉ. सुषमा त्रिपाठी

गीत पर्व (गीत सं.): सं. सतीश गुप्ता

प्रकाशक : शब्दोत्सव, के-२२१, यशोदानगर, कानपुर-२०८०११. मू. २५०/-

‘गीत पर्व’ शीर्षक ही ऐसा कि मन उल्लसित हो नाच उठे. ‘पर्व’ शब्द ही उल्लास का प्रतीक है. आज

जब जीवन नीरस और स्वार्थपरता के कारण उजाड़-सा हो गया है... उसमें ‘गीत पर्व’ का आगमन रेतीली मरुभूमि पर पड़ी रिमझिम फुहारों सा मन-मयूर को नाचने के लिए विवश-सा करता प्रतीत होता है.

मंजिल तक पहुंचने की शीघ्रता भी गीतों के आकर्षक पड़ावों को कम नहीं कर पाती. आज भी ‘गीत जीवित ही नहीं जीवंत भी हैं.’ ‘गीत पर्व’ के कवियों ने इसे सिद्ध कर दिया है. गीत तो आदिम युग से चली आ रही विधा है. रोते बच्चों को यदि गीत चुप कराते हैं, सुलाते हैं तो प्रेमियों के मन को भी गीत ही मुखर कराते हैं. सोते सिपाहियों को जगाते हैं तो मन की पीड़ा को व्यक्त कर बांटते भी हैं. देशप्रेम की तो गीत माधुरी, ओज और जोश से भरपूर ही होती है. गीत की गौरव गाथा तो ‘हरि अनंत हरि कथा अनंता’ जैसी है.

यहां उल्लेख है श्री सतीश गुप्ता द्वारा संपादित ‘गीत-पर्व’ संग्रह का. इसके नये पुराने कुल १५ गीत कवियों की गीत सलिला अविरल रूप से प्रवहमान है. ‘गीत पर्व’ में संकलित हर गीत निश्चित ही अमूल्य धरोहर-सा प्रतीत होता है. संपादक श्री सतीश गुप्ता ने इस गीत संकलन में सश्रम प्रयास किया है जो स्तुत्य तो है ही अतुल्य भी है. वे स्वयं एक स्थापित गीतकार हैं. ‘यूं छुओ न मुझको होठों से’ गीत ने मन के प्रतिबंध हीन होने का परिचय स्वयं दे दिया है. और सफल गीत की यही पहचान है. क्योंकि गीत तो मन का ही उत्स है जब गाने के लिए मन मचल उठे तभी रस वर्षा संभव है.

वास्तविकता तो यह है कि गीत रीतिकालीन युग तक आते-आते मिटने से लगे थे. उस युग की छंदप्रियता, रीति ग्रंथ सृजन की लोलुपता के जंजाल ने गीत की मोहकता और मधुरता को हर लिया था. गीतों में भावपक्ष का अभाव हो रहा था. और तभी आधुनिक युग गीत युग बनकर आया किंतु एक अलग पहचान मिली छायावाद से. प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के गीतों का माधुर्य सभी गीत प्रेमियों को आज भी याद है.

जीवन की जटिलताओं ने गीत के विकास क्रम में एक बार फिर बाधा डाली थी; किंतु इस बार गीत ‘नवगीत’ बनकर आया और फिर तो वह इस विधा में विकास के आकाश को छूकर ही माना. आज हर गीत-कवि लोक जीवन, लोक संस्कृति, लोकभाषा में गहरे उतरकर जनचेतना को सकारात्मक आश्रित प्रदान करते गीतों की ओर



उन्मुख है। 'गीत पर्व' के संपादक सतीश गुप्ता ने पर्व-आंगन में जिन गीत कवियों को समुचित साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत किया है, वे सभी बधाई के पात्र हैं, साधुवाद के अधिकारी हैं। सभी गीतकारों के गीतों में विभिन्न भाव-निर्झर बहे हैं। मोहन भारतीय ने संवेदनहीन हृदय के लिए गीत को अर्थहीन कहा है तो डॉ. मनोहर अभय बाजारवाद से विवश व्यक्ति को रंभाते बछड़ों का क्रंदन ही आहत नहीं करता, वरन स्वयं भी दूध बिना कैसे जिये की बात करना भी नहीं भूलते। प्रो. हरि राजसिंह 'नूर' साहब की तो बात ही क्या? 'गीत पर्व' में सम्मिलित उनके गीत वेद की निर्मल ऋचाओं जैसे हैं। शालीनता और सुरुचि उनके गीतों का प्राण है। डॉ. बृजेश 'मन की पीर न जाने कोई' कह कर प्रीति के मृदुगीत गाते हैं। मुकुंद कौशल का दृष्टिकोण गीत के भविष्य के प्रति एक संरक्षक की सी चिंता करता दिखता है।

डॉ. मधु प्रधान के गीत प्रेम की महक लिये फूल से महकते हैं। उनके गीत पढ़ते हुए महादेवी की बार-बार याद आती है। शिवानंद सिंह 'सहयोगी' के गीतों में ताजा हवा के झोंके से आते लगते हैं। सतीश गुप्ता 'गीत पर्व' के संयोजक भी हैं, संपादक भी। उनके गीतों में हृदय की शुचिता और वेदना विदग्ध देखी, भोगी हुई आपबीती दर्दभरी दास्तान सुनाती सी लगती है। डॉ. सुधांशु अपने गीतों में आह और चाह की राह तलाशते दिखाई देते हैं। हरीलाल 'मिलन' की गीत सृजन दृष्टि और क्षमता आदर्शों की अभिव्यक्ति और यथार्थ से संपृक्त दिखती है। राजेंद्र वर्मा अपने गीतों में सामाजिक सरोकारों को उकेरने, बिखेरने में प्रयत्नरत दिखते हैं। उनके समय सापेक्ष रूपक और बिंब-चित्र अविस्मरणीय हैं। देवेंद्र 'सफल' के गीतों में इस त्रासद युग में जागरण की ललक और कर्तव्य बोध स्पष्ट दिखाई देता है।

अशोक गुप्त के गीत स्वतः स्फूर्त चेतना से उपजे भावुकता में डूबते उतराते जान पड़ते हैं। उषा किरण 'किरण' ने अपने गीतों में दर्द को अपना बना कर प्रेम की अंतर्कथा लिखने से अपने को बचाया है। डॉ. भावना तिवारी के गीतों में प्रेम की अनन्यता अलौकिक अनुभूति से जोड़कर जीवन मूल्यों के प्रति अत्याधिक संवेदनशील हो उठी है।

'गीत पर्व' के सभी पंद्रह गीतकारों के गीत, कवियों के संक्षिप्त परिचय और उनके गीतकथन के साथ संकलित,

सम्मिलित हुए हैं। यह एक सुखद अनुभव जन्य संयोग-सा लगता है कि इतनी संभावनाओं और सामर्थ्य से लबरेज यह गीत दस्तावेज बन कर हमारे सामने आया है। संपूर्ण तो है ही 'गीत पर्व', आगे भी गीत अनुष्ठान में संलग्नता के प्रति आश्वस्त भी करता है। गीत के सुखद और समृद्ध भविष्य के लिए शुभकामनाओं के साथ।

जुहारी देवीगर्ल्स कॉलेज,  
कैनाल रोड, कानपुर (उ. प्र.)

## शाकुंतलम : एक अमर प्रेम गाथा

संतोष श्रीवास्तव

शाकुंतलम : एक अमर प्रेम गाथा (काव्य): डॉ. विनोद भल्ला

प्रकाशक : डॉ. विनोद भल्ला, के-४०१, पाम कोर्ट  
कॉम्प्लेक्स, लिंक रोड, मलाड (प.), मुंबई- ४०००६४.

मू. ४००/-

### वि

विश्वा मित्र और मेनका की पुत्री शकुंतला महाभारत की कथाओं का एक अदभुत चरित्र है। माता-पिता द्वारा त्याग दिये जाने के बाद कुछ समय तक पक्षियों ने उसकी रक्षा की, शायद यही वजह है कि उसका नाम शकुंतला पड़ा। वह महर्षि कण्व के आश्रम में पली बड़ी। वह महर्षि कण्व की धर्म पुत्री थी और महर्षि कण्व उसके धर्म पिता। शकुंतला को लेकर महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुंतलम' महा प्रेम नाट्य लिखा और जन-जन के हृदय को शकुंतला और दुष्यंत की प्रेमगाथा से सरोबार कर दिया। कालांतर में इस कथा को आधार बनाकर कई लेखकों, कवियों ने इस पर रचनाएं लिखीं।

डॉ. विनोद भल्ला ने भी शकुंतला-दुष्यंत की प्रेमकथा को आधार बनाकर 'शाकुंतलम एक प्रेम कथा' नाम से काव्य कथा लिखी है, जो मूलकथा से हटकर है जिसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं।

कालिदास ने महाभारत में वर्णित शकुंतला दुष्यंत पर जब क्रलम चलायी थी वह युग वैज्ञानिक युग नहीं था अतः उसमें श्राप का उल्लेख है। महाभारत की मूल कहानी में आकाशवाणी का... किंतु वैज्ञानिक युग में इन दोनों पर ही विश्वास करना लेखक को कठिन लगा अतः उन्होंने अपनी रचना इन दोनों के बिना लिखी। यह एक नयी कहानी

है जो पुराने पात्रों को आधार बनाकर लिखी गयी है हालांकि आश्रम, राजा, वसंत उत्सव... पूरे के पूरे परिवेश का उल्लेख उस काल जैसा ही है. विज्ञान के तर्क को सामने रख केवल श्राप, आकाशवाणी और अंगूठी प्रसंग को सिरे से नकारा गया है.

२१ खंडों में विभाजित इस कथा का आरंभ महर्षि कण्व के तपोवन से होता है, जहां दुष्यंत को शिकार करने से रोकते हुए मुनिवर कटाक्ष करते हैं, “आखेट भय आक्रांत मृग का, क्या बस यही शौर्य तुम्हारा” और कहते हैं कि इस तपोवन के प्राणियों को मारना पाप है, और राजन तुम यह क्यों अब भूल गये कि इसी तपोवन में तुम्हारा बचपन बीता है, दीक्षा हुई है. अब आये हो तो सामने महर्षि कण्व का आश्रम है वहां रुक कर कुछ दिन आराम करो.

मुनिवर की आज्ञा से दुष्यंत महर्षि कण्व के आश्रम में जाते हैं, जहां... खुद से तर्क करती शकुंतला को छुप कर देखते हैं. तभी शकुंतला की सखियां अनुसूया और प्रियंवदा आती हैं और दुष्यंत के तपोवन में आने का समाचार देती हैं और पता चलता है कि दुष्यंत शकुंतला का बचपन संग-संग बीता है. और वे बचपन के मीत हैं. शकुंतला को यह संदेह है कि बचपन के वे तमाम मान मनौव्वल दुष्यंत को याद होंगे.... और तभी तेज्र हवा के कारण शकुंतला का आंचल दुष्यंत से जाकर लिपट जाता है और दोनों एक दूसरे को मंत्रमुग्ध हो देखने लगते हैं. दुष्यंत उलाहना देते हैं कि तुमसे अच्छा तो तुम्हारा आंचल है जो हमें पहचान कर हमसे लिपट गया... इसी नोक झोक में एक दूसरे की परतें खुलती गयीं. दुष्यंत के मित्र मांडव्य को भी उनके पनपते प्रेम का आभास हो जाता है. दुष्यंत प्रेम को गोपनीय रखने हेतु मांडव्य को बहाने से हस्तिनापुर भेज देते हैं...

अचानक काव्य प्रवाह में दुष्यंत की पत्नी रानी वसुमति का जिक्र आ जाता है और कवि ने वसुमति को ही आधार बना दुर्व्यासा ऋषि द्वारा शकुंतला को दिया श्राप, आकाशवाणी, पति गृह जाती हुई शकुंतला की उंगली से नदी में अंगूठी का गिरना आदि प्रसंगों को लेखन से परे कर दिया है यानी कि मूलकथा को नवीन संदर्भ में प्रस्तुत किया है.

अब मांडव्य की ज़िम्मेदारी बढ़ जाती है कि तपोवन में घटित प्रेम प्रसंग और राजा दुष्यंत के बिना हस्तिनापुर

लौटने की बात वे वसुमति के सामने किस तरह पेश करें.. बतायें या छुपा जायें? एक तरफ़ मित्र और दूसरी तरफ़ हस्तिनापुर की रानी... क्या करें. सबका हित इसी में है सोचकर मांडव्य ने प्रेम प्रसंग रानी वसुमति को सुना दिया.

मानसिक द्रंढ पीड़ा, संताप से गुजरते हुए वसुमति इस बात का दोषी खुद को पाती है क्योंकि वे राजा दुष्यंत को वारिस नहीं दे पायीं. पल भर को कमज़ोर हुई वसुमति पुनः हाँसले से भर उठती है और मांडव्य से वचन लेती है कि वे दुष्यंत को यह न बतायें कि मैं सब कुछ जान चुकी हूँ. वह नहीं चाहती कि दुष्यंत और मांडव्य के बीच भी कोई ग़लतफ़हमी पनपे....

तपोवन में कामासिक्त दुष्यंत जब शकुंतला से अभिसार की बात करते हैं तो शकुंतला उन्हें धिक्कारती है कि आर्य पुत्र होकर तुम इतनी अधम बात कैसे कह सकते हो ? मैं नारी हूँ, भोग्या नहीं... पहले विवाह करके इस अधिकार को प्राप्त करो. यहां कवि ने शकुंतला के चरित्र को गढ़ते हुए बहुत सावधानी बरती है और इसी वजह से दुष्यंत बचपन में देखे स्वप्न को विवाह बंधन में बंधकर पूरा होते देखने का मन बना लेते हैं. लेकिन चूंकि दुष्यंत पहले से विवाहित हैं उनके मन के द्रंढ का भी बहुत सुंदर चित्रण किया है कवि ने. दुष्यंत सारी रात खुद को वसुमति के पति और शकुंतला के प्रेमी के रूप में जांचते-परखते रहे, मन को तैयार करते रहे, कि कहीं कोई अन्याय न हो जाये... और मानव मन की इस कमज़ोरी को भी कवि ने बड़ी सहजता से नियति के हाथों सौंप कर दुष्यंत के चरित्र को स्थिर कर दिया है. उधर शकुंतला भी आत्मचिंतन में डूबी है. सखी प्रियंवदा से पूछती है कि दुष्यंत से मेरा गंधर्व विवाह क्या उचित है? पिताश्री (महर्षि कण्व) क्या सोचेंगे, दुष्यंत विवाहित हैं, फिर भी पिताश्री उन्हें स्वीकारेंगे? और अगर प्रतिकूल परिस्थितियां हो गयीं तो क्या वह दुष्यंत का वियोग सह पायेगी? मानव मन के इस द्रंढ का कवि ने बखूबी चित्रण किया है.

तपोवन में वसंत उत्सव के दौरान महर्षि कण्व का आश्रम फूलों से सजाया जाता है, और इसी उत्सव के दौरान शकुंतला दुष्यंत कुलदेवी को साक्षी मान अनुसूया और प्रियंवदा की उपस्थिति में गंधर्व विवाह कर लेते हैं. मिलन के तुरंत बाद बिछोह मन को भारी कर जाता है, महर्षि कण्व अब तक तीर्थ से लौटे नहीं थे और दुष्यंत अब और रुक नहीं सकते थे. अतः उन्होंने बतौर अपनी

निशानी शकुंतला को अगुंठी प्रदान की और आश्वासन भी कि मेरा अनुचर हर सप्ताह तुम्हारा कुशलप्रेम मुझ तक पहुंचाता रहेगा, वे हस्तिनापुर लौट गये.

हस्तिनापुर लौटकर दुष्यंत वसुमति के साथ एकांत पाते ही मानसिक द्वंद से घिर गये. कैसे बतायें शकुंतला के साथ गंधर्व विवाह की बात? भोली-भाली समर्पिता वसुमति के सामने यह बात खोलने में दुष्यंत संकोच से घिरे जा रहे थे. वसुमति भी पहले से ही सब कुछ जानते हुए दुष्यंत के मौन पर अंतर्द्वंद से घिर चुकी थी. अपने भविष्य को नियति के हाथों सौंप उसने मन में धैर्य धारण कर लिया था. तपोवन में शकुंतला विरह की अग्नि में जल रही थी. कवि ने दुष्यंत और शकुंतला के मन की पीड़ा को बहुत सुंदर शब्दों में लिखा है — ‘एक दीपक जल रहा उधर, एक दीपक इधर जल रहा, पर मिटाने तम की सीमा, कोई भी सक्षम न रहा.’

प्रतीक्षारत शकुंतला गर्भवती हो गयी. गर्भ के लक्षणों को गौतमी ने पहचान लिया और गंधर्व विवाह की बात जान कर स्वीकृति की मोहर यह कह कर लगा दी, ‘आर्यपुत्र से भी सुयोग्य वर, शकुंतला तुम्हारे लिए नहीं है इस धरा पर.’

हस्तिनापुर में इंद्र के बुलावे पर दानवों से देवलोक की रक्षा के लिए दुष्यंत बिना शकुंतला को सूचना दिये रणभूमि में चले गये क्योंकि वे व्यर्थ में शकुंतला को चिंतित नहीं करना चाहते थे.

जब महर्षि कण्व आश्रम लौटे तो मां गौतमी ने उन्हें सब बता दिया... और कहा कि किसी ने स्वीकृति जतायी थी, किसी ने सामाजिक नियमों की दुहाई देकर विरोध जताया था... यहां कवि ने महर्षि कण्व के मुख से स्त्री स्वतंत्रता की बात उठायी है कि भारतीय संस्कृति में नारी को अपना वर चुनने का अधिकार है और इसमें माता-पिता की स्वीकृति हो यह आवश्यक नहीं है. व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक अंकुश में कभी संधि नहीं हो सकती. क्या सही, क्या ग़लत यह हमेशा तर्क का विषय रहा है, ... हमें इसका मूल्यांकन करना होगा और समय के परिवर्तन को मान्यता देनी होगी.

शकुंतला की हस्तिनापुर के लिए विदाई में भी कवि ने माता-पिता, संगी साथी से बिछोह आदि का आम वर्णन किया है जैसा कि युगों युगों से बेटी की विदाई के अवसर पर होता आ रहा है.

हस्तिनापुर में दुष्यंत की अनुपस्थिति में, आंखों में भविष्य के सुनहले सपने वसुमति के मुख से गंधर्व विवाह और गर्भ में पलते शिशु के लिए संदेह... इन तमाम बातों से आहत शकुंतला जब विलाप करती है तो वसुमति को अपराध बोध-सा होता है और वह शकुंतला को अपनी छोटी बहन का दर्जा देती है और शकुंतला को महल में रोक लेती है — यह कह कर कि यह तुम्हारे पति का घर है... शकुंतला के आने से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है.. उसके लिए वह कुलगुरु महर्षि कश्यप से परामर्श लेने हेतु शकुंतला को महर्षि कश्यप के आश्रम ले जाती है फिर उनकी आज्ञा से शकुंतला के प्रसव काल तक वह भी आश्रम में रहती है, और समय आने पर शकुंतला भरत को जन्म देती है. चार महीने बाद हस्तिनापुर में दुष्यंत के लौटने का समाचार सुन वसुमति तपोवन से हस्तिनापुर आती है और दुष्यंत के मुख से सच्चाई जान संतुष्ट होती है. लेकिन भरत के जन्म की बात न बता कर वह उन्हें महर्षि कश्यप के आश्रम शकुंतला को ढूंढने के बहाने ले जाती है जहां शकुंतला और पुत्र भरत को देख राजा भावविह्वल हो कहते हैं... ‘वसुमति... तुमने इतनी महत्वपूर्ण बात हमसे छुपा ली.’ तब वसुमति परिहास करती है कि... ‘एक सत्य छुपाया आपने हमसे, एक सत्य हमने आपसे छुपाया.’ कथा का अंत सुखांत है... दुष्यंत वसुमति और शकुंतला सहित भरत को लेकर हस्तिनापुर लौट आते हैं.

वास्तव में पूरी कथा की आधार स्तंभ वसुमति है. वसुमति के चरित्र को गढ़कर कवि, अविश्वसनीय बातों से कथा को बचा ले जाते हैं, प्रायः आध्यात्मिक कथाओं में जरूरी परिवर्तन कर लेखक अपने दृष्टिकोण से लिखते आये हैं. उसमें नयी-नयी संभावनाओं को आरोपित कर मूल कथा को नूतन परिवेश में ढालते आये हैं. डॉ. भल्ला ने भी यही किया जबकि इन तमाम बदलावों के बावजूद शकुंतला दुष्यंत की प्रणय कथा को ही सहेजते-समेटते रहे.

कालिदास रचित अभिज्ञान शाकुंतलम एक प्रकार से पौराणिक धरोहर है जो सदियों तक पढ़ी जाती रहेगी इसमें संदेह नहीं, इस धरोहर को साक्षी मान प्रेमी-प्रेमिका प्रेम की शपथ लें, तो असंभव नहीं है. इस धरोहर को अपने दृष्टिकोण से लेखनीबद्ध कर डॉ. भल्ला ने सराहनीय काम किया है मैं उनके सुखद भविष्य की कामना करती हूं.

✍️ २०४, केदारनाथ को. हॉ. सो., सेक्टर-७, निकट चारकोप बस डिपो., कांदिवली (प.) मुंबई- ४०००६७.  
मो. ९७६९०२३९८८

**: प्राप्ति-स्वीकार :**

- रुहेलखंड का गांधी (उपन्यास) : योगेंद्र शर्मा, नमन प्रकाशन, ४२३१/१, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२.  
मू. ४५० रु.
- क्रतरा-कतरा ज़िंदगी (उपन्यास) : मुकेश दुबे, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड,  
सीहोर-४६६००१(म. प्र.). मू. १५० रु.
- कड़ी धूप का सफ़र (उपन्यास) : मुकेश दुबे, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड, सीहोर-४६६००१(म. प्र.).  
मू. १५० रु.
- कभी धूप-कभी छांव (आ. उपन्यास) : भरत प्रसाद, मीनाक्षी प्रकाशन, एम. बी. ३२/२ बी, गली नं. २, शकरपुर,  
दिल्ली-११००९२. मू. २०० रु.
- सेतु तथा अन्य कहानियां (क. सं.) : ज्योति जैन, दिशा प्रकाशन, १३८/१६, त्रिनगर, दिल्ली-११००३५. मू. २४० रु.
- कसक (क. सं.) : डॉ. कृष्णा खत्री, मधुराक्षर प्रकाशन, फतेहपुर-२१२६०१ (उ. प्र.) मू. १८० रु.
- खाली हाथ वाली अम्मा (क. सं.) : प्रबोध कुमार गोविल, मोनिका प्रकाशन, ८५/१७५, प्रतापनगर, सांगानेर,  
जयपुर-३०२०३३. मू. ३०० रु.
- नयी सदी का कथा समय (गद्य) : सं. पंकज सुबीर, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड,  
सीहोर-४६६००१(म. प्र.). मू. २०० रु.
- पत्रकारिता-प्रदीप : प्रताप (गद्य) : सं. श्याम सुंदर निगम, कलम, ३७/५० शिवाला रोड, गिलिस बाज़ार, कानपुर-२०८००१.  
मू. ३४५ रु.
- समीक्षा की धार (निबंध सं.) : डॉ. अश्विनी कुमार शुक्ल, मधुराक्षर प्रकाशन, फतेहपुर-२१२६०१ (उ. प्र.) मू. १८० रु.
- जुगाड़ से चलता देश (व्यंग्य) : योगेंद्र शर्मा, नमन प्रकाशन, ४२३१/१, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२.  
मू. २५० रु.
- तितलियों को उड़ते देखा है...? (क. सं.) : मधु अरोड़ा, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड,  
सीहोर-४६६००१(म. प्र.). मू. १५० रु.
- सरकती परछाइयां (क. सं.) : सुधा ओम ढींगरा, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट,  
बस स्टैंड, सीहोर-४६६००१(म. प्र.). मू. १५० रु.
- बंजारे हैं शब्द (का. सं.) : लक्ष्मी रूपल, अयन प्रकाशन, १/२०, महरौली, नयी दिल्ली-११००३०. मू. २४० रु.
- पड़ाव और पड़ताल (ल. सं./ खंड : २,३,४ व ५) : सं. संयोजक मधुदीप, दिशा प्रकाशन, १३८/१६, त्रिनगर,  
दिल्ली-११००३५. मू. ३५०-३९० रु.
- फिर मिलेंगे... (प्र. काव्य) : साधु शरण वर्मा "सरन," प्र. डॉ. ल. श. मिश्र, निशंक अध्ययन संस्थान, शतदल, ए-३  
गोविंदपुरी, अलीगंज, लखनऊ. मू. १५० रु.
- डाली...मोगरे की (ग. सं.) : नीरज गोस्वामी, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड,  
सीहोर-४६६००१(म. प्र.). मू. १५० रु.
- गीत पर्व (गीत सं.) : सं. सतीश गुप्ता, शब्दोत्सव, के-२२१, यशोदा नगर, कानपुर-२०८०११. मू. २५० रु.

**पाठकों/ग्राहकों से निवेदन**

कृपया 'कथाबिंब' की सदस्यता राशि मनी ऑर्डर से भेजते समय, अपना नाम, पता, पिन कोड सहित साफ़-साफ़ लिखें. मनीऑर्डर भेजने के बाद पोस्टकार्ड पर पूरे पते सहित इसकी सूचना अवश्य दें. आपकी सदस्यता अगले अंक से लागू होगी. पते में परिवर्तन की सूचना भेजते समय कृपया नये पते के साथ पुराने पते का उल्लेख करना न भूलें.

- संपादक

## ''कमलेश्वर स्मृति कथा पुरस्कार - २०१४''

''कथाबिंब'' के प्रकाशन का यह ३६ वां वर्ष है. एक अभिनव प्रयोग के तहत प्रतिवर्ष पत्रिका में प्रकाशित कहानियों को पुरस्कृत करने का उपक्रम हमने प्रारंभ किया हुआ है. पाठकों के अभिमतों व निर्णायकों के पैनल द्वारा वर्ष २०१४ के 'कहानी-विशेषांक' व अन्य दो अंकों में प्रकाशित ४० कहानियों का श्रेष्ठता क्रम निम्नवत रहा. सभी पुरस्कार विजेताओं को बधाई! विजेता यदि चाहें तो इस राशि में से या तो वे स्वयं ''कथाबिंब'' की आजीवन या त्रैवार्षिक सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं अथवा अपने किसी मित्र/परिचित को सदस्यता भेंट कर सकते हैं. कृपया इस संदर्भ में शीघ्र सूचित करें. हम अत्यंत आभारी होंगे.

### : सर्वश्रेष्ठ कहानी (१००० रु.) :

- |   |                                     |
|---|-------------------------------------|
| ❖ धिनाधिन... धिन... धिनाधिन... - अलका सिन्हा    | ❖ उसका भोजन - अमरीक सिंह दीप        |
| ❖ ... और जल गया उसका सर्वस्व - उषा राजे सक्सेना | ❖ एक विधवा और एक चांद - नीला प्रसाद |

### : श्रेष्ठ कहानी (७५० रु.) :

- |  |                                     |
|--|-------------------------------------|
| ❖ पंचमी के चांद की विजिट - डॉ. सूर्यबाला | ❖ खोयी हुई ज़िंदगी - हरि सुमन विष्ट |
| ❖ उत्तराधिकारी - डॉ. स्वाति तिवारी       | ❖ अनचाहे मोड़ - डॉ. दामोदर खड़से    |

### : उत्तम कहानी (५०० रु.) :

- |                                   |                                       |
|-----------------------------------|---------------------------------------|
| ❖ अड़तालिस घंटे - शैल अग्रवाल     | ❖ मानसी इन वंडर लैंड - पुष्पा सक्सेना |
| ❖ सुरली भौजी - डॉ. रूपसिंह चंदेल  | ❖ कुसुममाला - डॉ. निरुपमा राय         |
| ❖ न भूतो न भविष्यति - कमल कपूर    | ❖ बेजुबान - गजेंद्र रावत              |
| ❖ सर्वशिक्षा - डॉ. देवेन्द्र सिंह | ❖ सर्पदंश - रिया शर्मा                |

### : 'कथाबिंब' के आजीवन सदस्य बनिए :

'कथाबिंब' के प्रकाशन का यह ३७ वां वर्ष है. हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशन में इसे एक छोटा-मोटा कीर्तिमान कहना अन्यथा नहीं कहा जाना चाहिए. इस अवधि में, अपने छोटे कलेवर में 'कथाबिंब' ने हर घर-परिवार के लिए एक ज़रूरी पत्रिका के रूप में अपनी पहचान बनायी है. 'कथाबिंब' का आजीवन शुल्क मात्र ५००रु. है. यदि अभी तक आप आजीवन सदस्य नहीं बने हैं तो शीघ्र 'कथाबिंब' के नाम ५००रु. का चैक या मनीऑर्डर भेजकर सदस्यता ग्रहण करें. कृपया मित्रों-परिचितों को भी सदस्यता लेने के लिए प्रेरित करें.

स्वयं या अपने संपर्क के माध्यम से 'कथाबिंब' के लिए विज्ञापन दिलवाकर भी आप 'कथाबिंब' की सहायता कर सकते हैं. कृपया सूचित करें.

- संपादक

२३ नवंबर २०१४ को 'शिखर' एवं जनवादी लेखक संघ के संयुक्त तत्वावधान में फ़र्रुखाबाद (उ. प्र.) में आयोजित सम्मेलन की झलकियां.

